1175

सोमसी

वर्ष १

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी

अंक १

tharahkardu.in

Scanned with CamScanner

सोमसी

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का त्रैमासिक मुख-पत्र

प्रवेशाङ्क जनवरी, १९७५

परामर्श-मण्डल

1. आचार्य दिवाकरदत्त शर्मा
2. श्री खेमराज गुप्त
3. श्री हरिराम जसटा
4. श्री मौलूराम ठाकुर

प्रबन्ध-सम्पादक
एच0 सी0 पराशर

सम्पादक
डॉ0 बंशीराम शर्मा

सहयोगी
सरोज शर्मा

आवरण
ओमप्रकाश

वार्षिक : 12 रुपये **मूल्य एक प्रति : 3 रुपये मात्र**

प्राप्ति-स्थान––

हिमाचल कला–संस्कृति–भाषा अकादमी, परिमहल, शिमला-9

Scanned with CamScanner

विषय तालिका

	पृष्ठ
सम्पादकीय —	(i)
सन्देश—राज्यपाल, हि0 प्र0	(iii)
सन्देश—मुख्यमन्त्री, हि0 प्र0	(v)
सन्देश—उप–कुलपति, हि0 विश्वविद्यालय	(vii)
सन्देश—प्रो0 एन0 सी0 पराशर	(ix)
सन्देश—आर0 सी0 गुप्ता	(xi)
1—पूर्विका—श्री लाल चन्द प्रार्थी	1–6
2—हिमाचली वास्तुकला : परम्परा और शली —आचार्य दिवाकरदत्त शर्मा ..	7–23
3—लोक-संस्कृति	24
4—हिमाचल का लोक-नाट्य : करियाला —श्री ओमचन्द हाण्डा ..	25–32
5—कांगड़ी लोक गीतों में कल्पना का स्वरूप —डा0 गौतम 'व्यथित' ..	33–52
6—पहाड़ी मुहावरे और कहावतें —प्रो0 हरिराम जसटा ..	53–60
7—ग्राम्य धर्म-रंग मंच के प्रसंग में —हरिचन्द पराशर ..	61–97
8—पहाड़ी भाषा : लिपि —श्री मौलू राम ठाकर ..	68–83
9—सराहन क्षेत्र (ज़िला शिमला) की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि ..	88–102
10—उचियां डीलां —श्री मनसा राम शर्मा 'अरूण' ..	103–105
11—चालदे ही रैहणा —श्री सी0 आर0 बी0 ललित ..	106–107
11—हिमाचल-कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का परिचय एवम् गतिविधियां ..	108–112

सम्पादकीय

किसी विद्वान ने कहा है–मानव ! यदि तुम पढ़ना चाहते हो तो प्रत्येक मनुष्य स्वयं में पूर्ण एक ग्रन्थ है।

मनुष्य चिन्तन शील, बुद्धिमान तथा ज्ञानी है। इन्द्रिय–बोध उसकी क्रियाशीलता का ठोस आधार है।

इन्द्रियबोध के द्वारा चिन्तन सम्भव होता है। चिन्तन शाश्वत तथा गतिशील है। वह रुकना नहीं जानता।

चिन्तन का मुख्य पक्ष दर्शन अर्थात् 'देखने की क्रिया' है। दर्शन सूक्ष्म अर्थ-बोधक शब्द है।

शब्द वाक्य की न्यूनतम इकाई है। इसी पर भाषा का भवन खड़ा हुआ है।

मानव को समझने के लिये भाषा आवश्यक है।

मूर्त पदार्थों और व्यापारों के बोधक शब्दों का अमूर्त धारणाओं के लिये प्रयोग भाषा विकास का सामान्य नियम है।

इन्द्रिय बोध, चिन्तन व भाषा संस्कृति के पोषक तत्व हैं। भाषा संस्कृति का वाहन है।

भाषा और संस्कृति समूचे समाज की सम्पति हैं।

कलायें इन्द्रिय-बोध व चिन्तन का मूर्त रूप हैं।

इस प्रकार कला, संस्कृति और भाषा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

कला में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति होती है!

संस्कृति का संस्कारों से सम्बन्ध है उसके रूप बदलते रहते हैं। उसमें परिष्कार होता है। उसका सम्बन्ध लोकमानस से है।

भाषा के माध्यम से समाज जीवित रहता है। इतिहास बनते ह। पुराणकथायें बनती ह।

मनुष्य अपने समय का स्वामी होता है। उसे प्रकृति ने विवकशील बनाया है। वह संस्कृति का रक्षक है।

पैतृक धरोहर का पोषण हम सब का पुनीत कर्तव्य है।

सोमसी का प्रथमाङ्क पाठकों के लिये नए वर्ष की वधाई तथा मंगल–कामनायें लेकर आया है।

सत्यमेव जयते

RAJ BHAVAN
SIMLA
November 15, 1974

Message

I am happy to learn that the Himachal Academy of Arts, Culture and Languages is bringing out a quarterly magazine 'SOMSI' in January, 1975.

Himachal is a veritable treasure-house of art, architecture, sculpture, painting and music and I hope that the Academy will not only preserve the old art forms but also inspire new art forms, drawing their inspiration from the old. In this endeavour, the Academy will no doubt extend its patronage to men of letters and artists, so that both traditional talent and artistic creativity are encouraged to flourish and enrich our cultural heritage. I hope 'SOMSI' will provide a forum for the exchange of artistic experiences, both regional and national, and for the promotion of the inherent artistic talents of our people in the eternal quest for the good, the true and the beautiful.

My greetings to the Academy and good wishes for the success of the magazine.

S. CHAKRAVARTI,
Governor, Himachal Pradesh.

Scanned with CamScanner

CHIEF MINISTER
GOVERNMENT OF HIMACHAL PRADESH
SIMLA-2.

Message

I am happy to know that Himachal Academy of Arts, Culture and Languages is bringing out a quarterly magazine 'SOMSI' in the first week of January, 1975.

The magazine of the Academy besides being a prestige publication should ensure projection of rich cultural heritage of Himachal Pradesh. It has to keep itself aleast of all research in the field of Arts, Crafts and Culture. In fact, this magazine should serve as an important information media to all those who want to know "Cultural Himachal".

With a view to making it a proper representative magazine of the Himachal culture, the concerned authorities have to take special pains in putting across the cultural potential of the State before its readers in most befitting manner.

I hope the Academy will make it most popular inside and outside the Pradesh.

I send my good wishes for the success of the magazine.

Y. S. Parmar,
Chief Minister.

Scanned with CamScanner

R. K. SINGH,
M. A., LLB., D.Ed. (HARVARD)
Vice-Chancellor.

HIMACHAL PRADESH UNIVERSITY,
SIMLA-5
November 15, 1974

Message

I am glad to learn that the Himachal Academy of Arts, Culture and Languages is starting the publication of a quarterly magazine. I hope it will help popularise the Art, Culture and Languages of the State.

R. K. SINGH,
Vice-Chancellor.

Scanned with CamScanner

N. C. PARASHAR
MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

December 5, 1974

Message

I am very glad to learn that the Himachal Academy of Arts, Culture and Languages proposes to launch the quarterly magazine 'SOMSI' in the 1st week of January, 1975. It is indeed a very encouraging development and it will be a good attempt to promote the cause of Pahari Language, Arts and Culture as also highlight the contribution made by the people of the State in general and writers in particular in the world of letters.

I hope that the magazine would provide the desired avenue to the men of letters in Himachal Pradesh as also a window to the outside world for a glimpse of this beautiful State. I am also sure that the Academy would find an excellent organ in this magazine.

I send my good wishes for the success of the 'SOMSI' and congratulations to all the members of the staff of the Academy on this auspicious occasion.

NARAIN CHAND PARASHAR.

Scanned with CamScanner

R. C. GUPTA

SECRETARY,
(LANGUAGES AND CULTURAL AFFAIRS)
HIMACHAL PRADESH GOVERNMENT, SIMLA-171002.

Message

I am happy to learn that Himachal Academy of Arts, Culture and Languages would start publication of a quarterly Magazine 'SOMSI' w. e. f. January, 1975. This publication, I am sure, will fulfil a longfelt need of the State in bringing together all aspects of Art, Culture and language of the State and will also provide encouragement to the young artists in all these fields.

R. C. GUPTA.

Scanned with CamScanner

पूर्विका

हिमालय भारत के लिए एक जीवन-पद्धति है, केवल शैलमाला मात्र नहीं।

हमारे धर्मशास्त्रों में इस पर्वत को पवित्र तथा पाप-समूह-नाशक कहा गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार :—

"अल्पेन तपसा यत्र सिद्धि प्राप्स्यन्ति तापसा :
यस्य दर्शन मात्रेण सर्व कल्मषनाशनम् ।"

हिमालय में तपस्या करने वाले तपस्वियों को थोड़े समय तक तपस्या करने पर ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके तो दर्शनमात्र से ही सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं।

स्कन्द पुराण में हिमालय के दर्शन ही नहीं ध्यान मात्र करने वाले व्यक्ति को उस श्रद्धालू से श्रेष्ठ कहा गया है जो काशी में सम्पूर्ण पूजा करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं को 'स्थावराणां हिमालय' अर्थात् 'जड़ वस्तुओं में मैं ही हिमालय हूं' बताया है। इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि आदिम मनीषी हिमालय को भगवान के स्वरूप के तुल्य मानते थे।

आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है :—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः
अर्धयोजन विस्तारः पंचयोजनमायत : ।

परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुत्तम पर्वत : ।
ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम ।।

ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ।।

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और 5 योजन घेरे वाला मेरू है जहां पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियां निकलती हैं, यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुये।

महाभारत वन पर्व में एक स्थल पर लिखा है :—

'अस्मिन हिमवतः श्रृङ्गे नावे वध्नीतमाचिरम्'

अर्थात् मनु ने इस हिमालय के शृंग में शीघ्रता से जलप्लावन की नाव को बांधा।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान अविनाशचन्द्रदास का कथन है कि वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें काश्मीर और हिमालय के ऊंचे पहाड़ों पर से ही देखा था।

महर्षि दयान्द जो त्रिविष्टप (तिब्बत) को मानव-सृष्टि का आदिम-स्थल मानते हैं, का विचार है कि जब विद्वानों और अविद्वानों अथवा देवताओं और असुरों में लड़ाई बखेड़े हुये और उपद्रव होने लगे तो आर्य लोग भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड में आकर बसने लगे। इसी से इस देश का नाम आर्यावर्त हुआ।

किरातार्जुनीय महाकाव्य में हिमालय को स्वर्ग से भी सुन्दर बताया गया है और इसके उन्नत शिखरों पर वास करने वालों को देवतुल्य माना गया है। इसी लिये तो स्वर्गीय गोपालसिंह नेपाली ने इसकी प्रशंसा में कहा है :—

इतनी ऊंची इसकी चोटी कि सकल धरती का ताज यही।
पर्वत पहाड़ से भरी धरा, पर केवल पर्वतराज यही॥
अम्बर में सिर, पाताल चरन
मन इसका गंगा का बचपन
तन बरन बरन, मुख निरावरन
इसकी छाया में जो भी है वह मस्तक नहीं झुकाता है।
गिरिराज हिमालय से भारत का कुछ ऐसा ही नाता है॥

हिमालय की महानता का वर्णन माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी ओजस्वी वाणी में इस प्रकार किया है :—

शैल शिखर भर इसे न समझो
गंगा बरस रही है कण।
यह दैवत है परम पुरातन
यह शिवशंकर यह मनमोहन॥

यह है मुकुट मातृ भू तेरा तीर्थ फल रही धरोहर।
यात्री सरवस चढ़ा चढ़ा कर इसे पाते हैं जीवन का वर॥

सारा देश थिरक जाता है जब यह शैल करवटें लेता।
भूकम्पों, बाढ़ों, झंझावातों का वस्त्र सलवटें लेता॥

श्री ई० वी० हेवेल ने अपने ग्रन्थ 'हिमालय इन इण्डियन आर्ट' में लिखा है :—

'भारतीय काव्य और पौराणिक कथायें इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि

हिमालय विश्व की केन्द्र-भूमिका है और देवता इसी ऊंचाई पर रहते हैं।'

विश्वविख्यात कवि तथा चित्रकार निकोल्स रोरिक ने तो नग्गर (कुल्लू) को अपना घर बनाया और अपने ग्रन्थ 'हिमालय : अबोड आफ् लाइट' में इस पर्वतराज के प्रति अपनी असीम श्रद्धांजली भेंट की। वे लिखते हैं:—'हिमालय! ऋषियों की तपोभूमि हिमालय! यहां कृष्ण की वंशी के स्वर प्रतिध्वनित हुये थे। अमिताभ गौतम बुद्ध का जन्म यहीं हुआ था। वेदों को रचना भी इसी के प्रांगण में हुई। पाण्डवों ने इसी क्षेत्र में शरण ली। यही पावन प्रदेश आर्यावर्त है। यही शंभला है, यही कैलाश है। यह है हिमालय भारत का भूषण! यह है हिमालय विश्व का वैभव! यह हिमालय पावनता का प्रतीक!'

विश्व के महान विद्वानों का हिमालय के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है क्योंकि प्रकृति ने अपनी समग्र कला का उद्घाटन इसी पर्वत पर किया है। 'वण्डर्ज़ आफ् दी हिमालय' में सर गंग हस्बैण्ड कितने स्वाभाविक शब्दों में लिखते हैं :—

'सब जगह की पहाड़ी शृंखलाओं में हिमालय सर्वाधिक आश्चर्य की जगह है। हिमालय का महत्व केवल इस बात में नहीं है कि वह सब से ऊंचा है। अपनी असीमित विविधता में भी हिमालय महान है। बाहरी बनावट के ढांचे में फूलों और जंगलों की समृद्धि में पशु-पक्षी और कीड़े मकोड़ों की दुनियां में, यहां तक कि मनुष्यों की उपजातियों की दृष्टि से भी हिमालय वर्णनातीत है। इतना गौरवमय कि भारतवासी इसे सदैव आश्चर्य और भक्ति की दृष्टि से देखते हैं'!

उन्होंने ठीक ही तो कहा है कि, 'हिमालय का सौंदर्य देख कर सृष्टा के लिये प्रशंसात्मक शब्द कहां से प्राप्त करें? गुरु के मार्ग पर, ऋषियों के इन शिखरों पर आत्मा के यात्री को पहाड़ी चढ़ाई पर वह निधि प्राप्त होती है जिसे भारी से भारी वर्षा नहीं बहा सकती, कोई भी उल्कापात उसे नहीं जला सकता। जो ऊर्ध्वगामी है उसे कठिनाइयों को पार कर जाने का वरदान प्राप्त है। विश्व की किसी भी शिखर-शृंखला से हिमालय की तुलना एक दुर्बल और भाग्यहीन प्रयास है।'

हिमालय वर्णनातीत है। इसकी उपत्यकाओं में निवास करने वाले लोगों की संस्कृति यद्यपि वाह्य संसार के लोगों के लिये अल्परिचित रही है परन्तु इस प्रागैतिहासिक-कालीन संस्कृति के गर्भ में न जाने कितनी सभ्यताओं और संस्कृतियों का समन्वय छिपा है। हिमालय प्रदेश की सांस्कृतिक मान्यताओं के सम्बन्ध में यह उक्ति सही है कि 'मैं देवताओं के हजार वर्षों में भी हिमालय की व्याख्या नहीं कर सकता।' इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां का समाज आदिमस्थिति में विद्यमान है परन्तु स्पष्टतया यह है कि प्राचीनतम संस्कृति व सभ्यता के महत्वपूर्ण अवशेष इस क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के रहन सहन में जिस सुगमता से देखे जा सकते हैं

उतनी सहजता से उन समाजों में नहीं देखे जा सकते जहां आवागमन के साधन सुगमतर हैं । इस क्षेत्र के निवासियों की संस्कृति में अनेक ऐसे अंश हैं जिनका पौराणिक काल की मान्यताओं से विरोधाभास है। इसका कारण यह है कि लोक-मानस में प्रचलित गाथाओं के आधार पर पुराणकारों ने ग्रन्थों की रचना की परन्तु लोक के प्रचलित विश्वासों को उसके अनुरूप नहीं ढाला गया। विविध प्राचीन तथा अर्वाचीन संस्कृतियों का सन्धिस्थल हिमाचल प्रदेश मानव-समाज के संस्कारों के अध्ययन के प्रति आस्था रखने वाले विद्वानों के लिये खुला पुस्तकालय है ।

यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वदिक आर्य सप्तसिन्धु में निवास करते थे। सप्तसिन्धु क्षेत्र में सात नदियां थीं । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ". . . . इस प्रकार पश्चिम में खैबर से पूर्व में यमुना के किनारे तक आर्यों का प्रभाव फैला हुआ था । उत्तर में हिमवन्त (10/121/4) या बड़े पहाड़ (1/77/3) इस के रास्ते को रोके हुये थे । जहां ही प्रतापी राजा शम्बर ने दिवोदास के छक्के छुड़ाये थे । उसके सौ पहाड़ी दुर्ग (6/31/4) आर्यों के लिये लोहे के चने थे । यद्यपि ऋग्वद (3/20/7) में आर्यों के "कृष्ण-योनि" (काली सन्तान) और (1/130/8) "कृष्ण-त्वक" (काले चमड़े वाले) में शम्बर को भी सम्मिलित किया गया है पर शम्बर प्राग-द्रविड़ जाति का नहीं, बल्कि प्राचीन किरात-जाति का था । ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में सारा हिमालय किरात-भूमि (किन्नर-भूमि) था । कांगड़े के प्रसिद्ध मन्दिर बैजनाथ की प्रशस्ति में इस बस्ती का नाम किरग्राम लिखा है । चम्बा लाहुल से आसाम तक हिमालय के पहाड़ों में आज भी किरात भाषा-भाषियों के अवशेष मिलते हैं , जिन्हीं को आजकल के वैज्ञानिक मोन-ख्मेर कहते हैं । शम्बर इस अंचल के किरात-जनों का वीर और प्रतापी नेता था। इसे पीछे की किम्वदन्तियों ने मानव से दानव तथा विकराल शरीर का बना दिया, जिस से इस पहाड़ी भू-भाग का नाम जलन्धर-खण्ड पड़ा । कांगड़ा में उसका कान पड़ा, इस लिये उसका नाम कनगढ़ा (कांगड़ा) हुआ । पहाड़ में व्यास और रावी के बीच वाले प्रदेश का नाम शम्बर था और मैदान में इन्हीं दोनों नदियों के बीच का राजा दिवोदास, इसलिये दोनों की प्रतिद्वन्द्विता स्वाभाविक थी ।"

हिमालयी क्षेत्र उस समय आर्यों के आकर्षण का केन्द्र था । यहां रह कर हमारे मनीषी वेदों जैसे उच्चतम दिव्य साहित्य का निर्माण कर सके । फिर हिमालय को श्रद्धापूर्ण ढंग से क्यों न याद किया जाये ! वर्तमान हिमाचल की दो प्रसिद्ध नदियों विपाशा (व्यास) तथा शुतुद्री (सतलुज) की महिमा का वर्णन तो वेदों में अनेक बार आया है । ऋग्वेद (3/3/33) में बताया गया है कि इन नदियों को रोकने वाले वृत्र असुर का संहार इन्द्र ने इसी क्षेत्र में किया था । सोम देवता का निवासस्थान भी यही क्षेत्र बताया गया है ।

वर्तमान सन्दर्भ में सोम देवता की चर्चा भी असंगत न होगी । वैदिक युग का मुख्य धर्म देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना रहा है । इस साहित्य में सोम का महत्वपूर्ण स्थान है । इन्द्र देवता ने इस युग में आर्य-शत्रुओं (असुरों) का अनेक बार संहार किया है । सोम इन्द्र का सखा(अथर्ववेद, 6/5/51), स्वयं इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, शक्ति तथा बुद्धि का देवता तथा आंखों की रोशनी प्रदान करन वाला देवता कहा गया है । हिमालय का एक भाग मुंजवत पर्वत सोम के लिये उल्लेखनीय रहा है । ऋग्वेद (6|4|44) में कहा गया है कि 'अयं विधातु दिवि रोचनेषु' अर्थात् सोम ने सूर्य को तेजस्वी बनाया तथा इसी ने सूर्यमण्डल को ज्योतिर्मान किया । नवम् मण्डल के अनुसार सूर्यात्मक सोम की ज्योति ने राजर्षि मनु की भली प्रकार रक्षा की थी ।

वैदिक साहित्य प्रतीकात्मक है । ये प्रतीक इतने अधिक रहस्यपूर्ण है कि इन की अनेक व्याखयायें की गई हैं परन्तु किसी को भी अन्तिम रूप से पूर्ण नहीं माना जा सकता । वैदिक संहिताओं में ऋचाओं की अनेक महत्वपूर्ण व्याख्यायें मिलती हैं । श्रद्धा का प्रादुर्भाव वदिक साहित्य में हो गया था और उसे गौरव का स्थान भी प्राप्त था । वह सोम के लिये तैयार किये जाने वाले सोम-रस को बढ़ाने वाली देवी मानी गई है । सोम उस समय का अत्यन्त शक्तिशाली देवता माना गया है । तैतिरीय संहिता, मैत्रियानी संहिता, कत्यकम्, शत्पथ ब्राह्मण तथा कौत्सिकी ब्राह्मण-उपनिषद् आदि में सोम की प्रतीकात्मक शक्ति के वर्णन आये हैं । इस शक्ति को 'सोमसी' कहा जा सकता है । इस प्रकार यह शक्ति श्रद्धा का एक रूप मानी जा सकती है । यद्यपि शक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता परन्तु इसके बिना कोई भी कार्य सम्भव नहीं है । यही शक्ति सोम की कार्यकुशलता को बढ़ाती तथा इस महत्पूर्ण देवता का स्थान ऊंचा करती है । यह महिमा-मयी, आनन्द दायिनी तथा काम-गातृ आद्य-शक्ति है । सोम आनन्द व अमरता का अधिपति माना जाता है । महर्षि अरविन्द के शब्दों में, "सोम आनन्द के रस का, अमृत-रस का अधिपति है । अग्नि ही की तरह वह पौधों में, पार्थिव उपचयों में और जलों में पाया जाता है । सोम-रस जो कि ब्रह्म-यज्ञ में, प्रयुक्त किया जाता है इसी आनन्द रस का प्रतीक है । . . . ये वर्णन प्रतीकरूप हैं , यह बात नवम् मण्डल के अधिकांश

सूक्तों में, जो कि सारे ही सोम देवतापरक हैं बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणतया, यहां सोम रस का कलश मनुष्य के भौतिक शरीर का प्रतीक है और इस छाननी के लिये जिस से छान कर इसे परिशुद्ध किया जाता है, यह कहा गया है कि वह द्यौ के स्थान में, दिवस्पदे, तनी हुई है।. . . द्यौ के पृष्ठ पर तनी हुई छाननी या परिशुद्ध करने का उपकरण ज्ञान (चेतस्) से प्रकाशित हुआ मन प्रतीत होता है।. . . इस प्रकार गृहीत तथा विशुद्धीकृत हो कर वे तीव्र और प्रचण्ड रस, ये सोमरस की वेगवती तथा मद ला देने वाली शक्तियां अब मन को विक्षुब्ध या शरीर को आहत नहीं करतीं, अब बिखरती या व्यर्थ नहीं जातीं, किन्तु अपने परिशुद्ध करने वाले मन तथा शरीर को प्रीणित करतीं और बढ़ाने लगती हैं।" (वेद रहस्य, द्वितीय खण्ड, पृ0 156-170, श्री अरविन्द)

जैसा कि पहले संकेत किया गया है कि शक्ति कार्यसम्पन्नता का मुख्य साधन है। सोमसी सोम अर्थात् तत्कालीन संस्कृति की विधायिनी शक्ति का विशेषण है। यह नाम भले ही वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने वाले पाठकों को अपेक्षाकृत नया प्रतीत हो परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में इसका अपना स्थान है, अपना महत्व है। सामान्य व कठोर दिखने वाले इन पर्वत-शृंगों ने मनुष्य के कोमलतम भावों को जन्म दिया है तथा आदि काल से मनीषियों की कल्पना व अनुभव के तन्तु यहीं पल्लवित तथा पुष्पित हुये हैं। इन तन्तुओं को आज भी अपने अपरिवर्तित मूल रूप में इन उपत्यकाओं में देखा जा सकता है। सोमसी को इस अमूल्य निधि का प्रतीक तथा वाहन मानने में स्वयमेव आनन्द एवम् सुख की प्राप्ति हो रही है। सोमसी के माध्यम से पर्वतीय कला, संस्कृति व भाषा का संरक्षण, पोषण और तथा सम्वर्द्धन सम्भव हो सकेगा, इस में सन्देह नहीं है।

प्रदेश की कला-संस्कृति एवम् भाषा के क्षेत्र में सोमसी अपना उल्लेखनीय स्थान बना पाएगी, इस विश्वास के साथ इसे सुधि पाठकों को समर्पित करते हुए मन हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता है।

मकर संक्रान्ति,
14 जनवरी, 1975

लाल चन्द प्रार्थी,
अध्यक्ष।

हिमाचली वास्तुकला : परम्परा और शैली

—आचार्य दिवाकरदत्त शर्मा

वास्तुकला का उद्भव और विकास

भारतीय वास्तुविद्या का उद्भव वेदांगों विशेषतः ज्योतिष एवं कल्प ग्रन्थों से हुआ। क्योंकि भारतीय वास्तुकला का आश्रय धर्म रहा है इसलिये धार्मिक संस्कारों, यज्ञों एवं पूजाओं से सम्बन्धित, भूमिचयन, भू-संस्कार, भूमि के मान और उन्मान (नाप-जोख एवं वेदी रचना आदि-आदि आवश्यकीय अंगों) के सम्बन्ध में जो निर्देश तथा विवरण इन सूत्र ग्रन्थों में मिलते हैं वे ही कालान्तर में वास्तुविद्या के सूत्रपात करने में सहायक हुए। भारत की प्राचीन परम्परा में जिन-जिन विद्याओं का एक साथ उल्लेख हुआ है वहां वास्तुविद्या का उल्लेख न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तुविद्या विशेष महत्व नहीं रखती। भवन सम्बन्धी आवश्यकता मानवता एवं मानव सभ्यता के साथ-साथ सदा से ही सर्वत्र रही है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में वास्तु सम्बन्धी संकेत स्पष्ट मिल रहा है:—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो
भूरिशृङ्गाः अयासः। अत्राह्नः तदुरुगायस्य
वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ ऋ0 1/154

इस मन्त्र में निवास के लिये इस प्रकार के भवन की कामना की गई है जिसमें सूर्य की किरणें पूर्णरूप से पड़ती हों। ऋग्वेदकालीन इस परम्परा का प्रसार भारत तक ही सीमित न रहकर आज सारे संसार में प्रचलित है। बाहर के देशों में वहां के भवन-निर्माण सम्बन्धी नियमों में वहीं पर मकान बनाना अच्छा समझा गया है जहां प्रातःकाल से सायंकाल तक सूर्य की किरणें पड़ती हों। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भवन के लिये भूमि-चयन व वास्तु पूजा आदि का उल्लेख भी मिलता है। यही नहीं सिन्धु नदी की सभ्यता में तो वास्तु कला के विकास की सुन्दर उन्नति के सुदृढ़ निदर्शन प्राप्त हुए हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वैदिककाल से ही वास्तुविद्या का मानव सभ्यता में एक अत्यन्त आवश्यक ज्ञान विद्यमान रहा है। ऋग्वेद में वास्तुकला सम्बन्धी जो संकेत मिलते हैं उनसे इस कला के शैशव का केवल अनुमान लगाया जा सकता है, ऋग्वेद की वास्तुकला उन्नत अवस्था में पाई जाती है, ऋग्वेद में वशिष्ट जी ने (त्रिधातुशरणम्) तिमंजले प्रासाद की कामना की है। इसी प्रकार एक प्रसंग में एक राजा के सहस्त्र स्तम्भ एवं सहस्त्र द्वार वाले विशाल हाल में बैठने का उल्लेख है। इसी प्रकार पुर एवं भवन, प्रासाद तथा आवास विषयक शतशः वास्तु-संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं।

जिस प्रकार ब्रह्मा के मुख से वैदिक वाङ्मय का उद्भव हुआ उसी प्रकार ब्रह्मा के मुख से वास्तुज्ञान का उद्भव माना गया है ।

वास्तुज्ञानमयात : कमलभवान्मुनिपरम्परायातम् ।
क्रियते) धुना मयेदं विदग्ध साम्वत्सर प्रीत्यै ।।

(बृहत्संहिता अ052.11) ।

बराहमिहिर कृत बृहत्संहिता के इस पद्य में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा के मुख से ही वास्तु ज्ञान का ग्राविर्भाव हुआ और वह फिर मुनि परम्परा से आगे विकसित हुआ । इसी सम्बन्ध में वास्तुकला के महत्वपूर्ण ग्रन्थ समरांगण सूत्रधार का समर्थन भी मिलता है ।

तामुवाच मुनिर्वत्सा विदितं वो यथा पुरा ।
वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा ।।

(समराङ्गण सूत्रधार अ0 अ04)

समरांगण सूत्रधार के उक्त पद्य से भी ब्रह्मा को ही वास्तुविद्या का स्रष्टा माना गया है ।

वैदिक वाङ्मय, पुराण एवं महाकाव्य बृहत् संहिता तथा मानसार आदि शिल्प-शास्त्रों तथा अन्य विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के परिशीलन से वास्तुविद्या के अनेक आचार्यों के नामोल्लेख तथा उनके सिद्धान्त का उल्लख मिलता है । अतः यह निर्विवाद है कि इस विद्या के मूल प्रवर्तकों का आविर्भाव भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था । जैसे जैसे वास्तुविद्या का विकास होता गया तदनुसार इस के विकास में दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं–विश्वकर्मा तथा मय । विश्वकर्मा का नाम देवताओं के स्थपति के रूप में अनादि काल से इस देश में प्रचलित है । देव भूमि भारत के उत्तरापथ भू-भाग पर विश्वकर्मा का अवतार हुआ । ऐसे बहुत संकेत प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, अतः इस भू-भाग से सम्बन्ध रखने वाली वास्तुकला तथा उस कला की विद्या के विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों में विश्वकर्मा को वास्तुकला का प्रथम आचार्य माना गया है । श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने यह भी प्रतिपादित किया है कि जहां विश्वकर्मा नामक देवताओं का स्थपति था वहां विश्वकर्मा नामक एक मनुष्य भी था जो वास्तुविद्या का प्रसारक हुआ और इसी से समयान्तर में स्थापत्य शास्त्र एवं कला में विश्वकर्मा परम्परा का प्रचलन हुआ ।

दैवी संस्कृति के साथ-साथ अनादिकाल से भारत में आसुरी संस्कृति का समानान्तर रूप से प्रसार होता रहा है । प्राचीन ग्रन्थों से यह भी स्पष्ट होता रहा है कि

संस्कृति के भौतिक रूप में असुरों ने देवों की अपेक्षा विशेष उन्नति की थी । विद्वानों ने ब्राह्मण आदि ग्रंथों के आधार पर भारत के आर्येतर निवासियों को असुर माना है । इसी परम्परा में वास्तुकला के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर मय असुर जाति में मय नामक असुर का वास्तुकला विशेषज्ञ के रूप में उल्लेख मिलता है । मय को आसुरी वास्तुविद्या के मूल प्रसारक के रूप में माना जाता है । इस प्रकार भारतीय वास्तुविद्या की यह दूसरी परम्परा मय-परम्परा के नाम से प्रसिद्ध है ।

यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जिस प्रकार भारतीय आर्य सभ्यता में एतद्देशीय आर्येतर तथा विदेशीय बहुसंख्यक घटक पद-पद पर उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार वास्तुविद्या के सिद्धान्त में भी कालान्तर पाकर पारस्परिक सम्मिश्रण हुआ । एक परम्परा की विद्या में दूसरी परम्परा के आचार्यों के मतों का आदरपूर्वक उल्लेख हुआ तथा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक स्थापत्य कौशल का जो व्यापक प्रसार हुआ उसमें देश-काल भेद होते हुए भी सम्मिश्रण का रूप सर्वत्र समान रूप से देखा जाता है ।

वास्तुकला की विभिन्न शैलियां और आचार्यः

पिछले प्रसंग से यह तो सिद्ध हो गया है कि वास्तुविद्या का आविर्भाव वैदिक युग से ही हुआ और ब्रह्मा उसके प्रमुख आविर्भावक हैं । इसके अतिरिक्त मत्स्य-पुराण एवं बृहद्संहिता में पच्चीस आचार्यों का निर्देश मिलता है । जिनके नाम इस प्रकार हैं:—ब्रह्मा, भृगु, अत्रि, वत्स्य, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर शक्र, कुमार नन्दीश (शम्भु), शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनुरुद्ध, शुक्र, वृहस्पति, मनु, पाराशर, काश्यप, भारद्वाज, प्रह्लाद, अगस्त्य, मार्कण्डेय, हिरण्यगर्भ ।

इसी प्रकार अग्नि पुराण में कुछ वास्तुविद्या के ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिस में विभिन्न आचार्यों का उल्लेख है । उल्लिखित आचार्यों के सिद्धान्त के अनुसार भारत में दो प्रकार की वास्तु शैलियों का प्रवर्तन हुआ । जिन्हें दक्षिणी और उत्तरी शैली कहा जाता है-अर्थात् दक्षिण की द्रविड़ शैली और उत्तर की नागर शैली जिनका आज भारत में सार्वत्रिक प्रभाव माना जाता है । दक्षिणी और उत्तरी परम्पराएं जन्म एवं विकास में पृथक् थीं परन्तु कालान्तर पाकर दोनों का पारस्परिक आदान प्रदान एवं सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ जो प्रायः आपस में मिलता जुलता है । इन दो शैलियों को ही हम अखिल भारतीय हिन्दु वास्तु-शैली कह सकते हैं जो भिन्न होते हुए भी एक हैं । नागर, द्राविड़, बाबाट, भूमिज, बेसर आदि विभिन्न शैलियां अथवा परम्पराएं एक प्रकार से इस महास्रोत की विभिन्न धाराएं हैं जिनका एक मात्र लक्ष्य महान् भारत की महान् आत्मा की अभिव्यंजना हैं ।

Scanned with CamScanner

वास्तुकला तथा विज्ञान

वास्तु-विद्या कला और विज्ञान दोनों ही है। इस प्रसंग में वास्तु शब्द के अभिप्राय का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अमरकोशकार अमर सिंह ने "वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्" (द्वि0 कां0) इस वाक्य में वास्तु शब्द का अभिप्राय भवन या भूमि दोनों बताया है। इसी प्रकार हैमकोश में

"वास्तुस्याद् गृहभूपुर्यीगृहे सीम सुरङ्गयोः (हैमः)।

इस वाक्य में वास्तु शब्द से रहने का घर, भूमि, पुरी, सीमा, सुरंग आदि सभी अर्थ लिये गये हैं। समरांगण सूत्रधार में वास्तुशास्त्र शब्द की सुन्दर विवेचना की गई है जैसे :—

देशः पुरः विवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत् श्रेयस्करं मतम्॥
वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते॥

(समराङ्गण सूत्रधार अध्याय-1/25)।

वास्तु शब्द देश, जनपद, राष्ट्र, देश के विभिन्न भेद एवं विभिन्न देशभूमियों का बोधक है, पुर से नगर के विभिन्न प्रकार जैसे राजधानी, शारवानगर, पत्तन, एवं पुटभेदन आदि सभी बोधव्य हैं। निवास विभिन्न कोटिक नगरेतर शाखानगर, खेट, ग्राम, पल्लि एवं पल्लिकाओं आदि बस्तियों का बोधक है। सभा में विशिष्ट भवन, मन्त्रशाला, धारापरिषद आदि माने जाते हैं। वेश्म से विभिन्न वर्गीय भवन जैसे देवावास, राजावास, राजप्रासाद एवं जनावास आदि माने जाते हैं। आसन में विभिन्न प्रकार के आसन, वाहन, शय्या आदि सम्मिलित हैं।

मय मत के अनुसार भी वास्तु शब्द का अभिप्राय भूमि, प्रासाद, यान एवं शयन से है। इसलिये वास्तुशास्त्र एकमात्र सिद्धांत का प्रतिपादन ही नहीं है वरन् उन सिद्धांन्तों के अनुरूप वास्तु कृतियों की रचना भी है। इसलिये काव्य और संगीत आदि की तरह वास्तु विद्या, वास्तुकला मानी जाती है। एलोरा के कैलाश अजन्ता के गुहामन्दिर एवं चित्र प्राचीन वास्तु-स्मारकों को हम जब देखते हैं तो विमुग्ध हो कर उनको मानव-कृति नहीं मानते देव-कृति मानते हैं। भारत में प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के भवनों के निर्माण की परम्परा रही है इसलिये अमरकोशकार अमरसिंह ने भवन के लिये अनेकों सार्थक और संगत पर्याय दिए हैं यथा :—

"गृहं गेहो होदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्।
निशान्तवस्त्यसदनं भवनागार मन्दिरम्॥

गृहाः पुंसि च भूम्येव निकाय्यनिलयालयाः
वासः कुटि द्वयोः शाला सभा संजवनंत्विदम्।

(अ0 को0 द्वि0 कां0 4-5-6)।

अर्थात् गृह, गेह, उदवसित, वेश्म, निकेतन, निशान्त वस्त्य, सदन, भवन, आगार, मन्दिर, निकाय, निलय, आलय, कुटि, शाला, सभा, संजवन ये सभी नाम घर के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और ये घर अलग-अलग प्रकार के माने गए हैं। इसमें शाला शब्द विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि अथर्ववेद में शाला शब्द पर आधारित एक सूक्त शाला सूक्त से प्रसिद्ध है। जिसका यह एक मन्त्र है—

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नी मग्निर्गर्भइवाशयें॥

(अ0 वे0 शाला सू0 9-3-21)।

उक्त मन्त्र के आधार से ऐसा प्रतीत होता है कि शाला शब्द दो मंज़िल, चार मंजिल छः मंज़िल, आठ मंज़िल या दस मंजिल वाले ऊंचे भवनों के लिये ही अनादि काल से प्रसिद्ध रहा है। इन्हीं आधारों पर वास्तुविद्या की गणना चौंसठ कलाओं में भी की गई है।

शुक्राचार्य के समय में वास्तुविद्या का प्रसार इतना व्यापक हो गया था कि वास्तुकला के महाकलेवर में सभी प्रधान कलाएं समाविष्ट हो गई थीं। वैसे तो वास्तुशास्त्र का प्रधान विषय भवन कला, यन्त्र कला, काष्ठकला, भूषण कला, आसन, सिंहासन आदि विद्या तथा चित्रकलादि हैं।

वास्तु विज्ञान

भारतीय वास्तु विद्या विज्ञान भी है क्योंकि भारत में जो भवन निर्माण के विधान हैं उनमें सबसे पहले भूमि परीक्षा, आस-पास का वातावरण वृक्ष आदि की परीक्षा करना आवश्यक समझा गया है, क्योंकि स्वास्थ्य और आध्यात्मिक चेतना की दृष्टि से भवन-निर्माण का अत्यन्त महत्व है। इस सम्बन्ध में गोभिल गृह्य सूत्र के निम्न अंश विचारणीय हैं:—

"अवसानं जोषयेत्। सभं लोमशमविभ्रंसि प्राच्य उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्तेन्न क्षीरिण्यो्कण्ठका अकटुका यत्रौषधयुः स्युः।"
"तत्रावसानं प्रागृद्वारं यशस्कामो बलकमः कुर्वीतोदग् द्वारं पुत्र पशुकामो दक्षिणां द्वारं सर्वकामो न प्रत्यगद्वारं कुर्वीत। गृहद्वारं यथा न संलोकिस्यात्।

(गो0 गृ0 सू0 प्र0 4 खं0 7)

1975

Scanned with CamScanner

उल्लिखित खण्डों में भवन बनाने के लिये समतल भूमि हो जिसमें घास उगता हो तथा जिसके निकट पूर्व या उत्तर दिशा में जल हो, बिना दूध वाले तथा कण्टक रहित एवं अकंटक वृक्ष हों, क्योंकि दूध वाले वृक्षों से और कांटेदार तथा कटुवृक्षों से सम्पर्क पाकर जो वायु आती है उसे स्वास्थ्य के लिये उत्तम नहीं माना गया है। पूर्व और उत्तर दिशा में होने वाले जल के स्रोतों में सूर्य की किरणों का प्रभाव रहता है इसलिये यह जल स्वास्थ्य के लिये लाभदायक माना गया है।

मकान के द्वार के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिकता का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है जिसमें पूर्व-उत्तर और दक्षिण-द्वार शुभ माने गए हैं किन्तु पश्चिम की ओर भवन का द्वार निषिद्ध बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि पश्चिम द्वार के भवन में सूर्य की किरणों का प्रसार अत्यन्त कम मात्रा में हो पाता है इसलिये उस मकान में तरह तरह की व्याधियां होने की सम्भावना बनी रहती है। भारतीय महर्षियों ने इस विषय को पूर्ण रूप से विकसित कर के जनसमाज के लिये वास्तुविज्ञान का अभूतपूर्व विधान बनाया है।

नवीन राजधानी बनाने के लिये भी स्थान के चुनाव में आचार्य शुक्राचार्य का निम्नांकित कथन पूर्णतया वैज्ञानिक है:—

"नानावृक्षलताकीर्णे पशुपक्षीगणावृते ।
सुवहूदक धान्ये च तृणकाष्ठ सुखे सदा"
आसिषु नौगमाकूले नातिदूरमहीधरे।
सुरम्य समभूदेशे राजधानीं प्रकल्पेयत् ॥

(शुक्रनीति : अध्या0 1, श्लोक-213-214)

नवीन राजधानी का निर्माण अनेक प्रकार के वृक्षलताओं से घिरे, पशु-पक्षियों से आवृत, पर्याप्त मात्रा में तृण, जल, धान्य, काष्ठ से परिपूर्ण, जहां से पर्वत समीप हों एवं समुद्र पर्यन्त नौका से आने जाने का मार्ग हो भूमि समतल हो, सम तथा सुरम्य हो, ऐसे स्थान में करे। इस प्रकार भारतीय वास्तुविद्या कला के साथ-साथ विज्ञान भी है इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

वैदिक काल में भवनों की विधाएं

वैदिक काल में कितने प्रकार के भवन बनाए जाते थे इसके सम्बन्ध में वराहमिहिर की वृहद्संहिता की आचार्य भट्टोत्पल की संस्कृत व्याख्या में महर्षि हिरण्यगर्भ का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है :—

"गृहं तु विविधं प्रोक्तं शरीरंस्तु पृथग्विधं : ।
पाषाणं निर्मितं यच्च तद्गृहं मन्दिरं स्मृतम् ॥

पक्वेस्टकं वास्तुनाम भवनं हितसंयुतम् ।
आमेष्टकं सुमन्तं तु सुधारं कर्दमेन तु ॥
मानस्यं वंधितं काष्ठै वेणुभिर्नन्दनं स्मृतम् ।
वस्त्रैश्च विजयं प्रोक्तं राज्ञां शिल्पविकल्पितम् ॥
कालिमेति च विज्ञेयमष्टमं तृणजातिभि : ।
उत्तमानि तु चत्वारि गृहाणि गृहमेधिनाम् ॥
सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं च प्रकीर्तितम् ।
सौवर्णे पुष्करं नाम राजसं श्रीभवं तथा ॥
ताम्रेणं सूर्यमन्तं तु चण्डनाम तथायसम् ।
देव दानव गन्धर्व यक्षराक्षस किन्नरैः
द्वादशैते प्रकारास्तु गृहाणां नियताः स्मृता : ।
जातुषं त्वानिलं नाम त्रापुषं वारिबन्धकम् ।
एवं जातिषु सर्वासु गृहाणि तु चतुर्दश ॥

(हिरण्य गर्भ) (वृहत्संहिता भट्टोत्पल व्याख्या)

महर्षि हिरण्यगर्भ के उक्त पदों में यह स्पष्ट कहा गया है कि भवन बनाने के अनेक प्रकार और आकार हैं। किन्तु संक्षेप में मुख्य रूप से चौदह प्रकार के महत्वपूर्ण भवनों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है–

1. केवल पाषाण से बनाया हुआ भवन मन्दिर कहलाता है।
2. पक्की ईंटों का बनाया हुआ भवन वास्तु कहलाता है।
3. कच्ची ईंटों का बना हुआ सुमन्त कहलाता है।
4. केवल मिट्टी का बना (मटकन्धा) सुधार कहलाता है।
5. केवल लकड़ी से बना हुआ मानस्य।
6. केवल बांस से बना हुआ नन्दन।
7. केवल कपड़ों से बना हुआ विजय (Tent)।
8. केवल घास का बना हुआ कालिम।
9. सुवर्ण का बना हुआ पुष्कर।
10. रजत का बना हुआ श्रीभव।
11. ताम्र का बना हुआ सूर्यमन्त।
12. लोहे का बना हुआ चण्ड।
13. जातुष अर्थात् लाख का बना आनिल।
14. त्रापुष धातु का बना हुआ वारिबन्धक।

इस प्रकार अनादि काल से भारतीय परम्परा में चौदह प्रकार के भवन निर्माण की प्रणाली चलती रही है। इस प्रसंग में एक बात बड़े ध्यान देने की है कि कुछ

Scanned with CamScanner

लोगों ने भारत के इतिहास को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है कि यहां पर पत्थर काल और धातुकाल की श्रेणी बना कर तोड़मरोड़ कर मौलिक इतिहास को पीछे कर के सामान्य से लेकर उच्च पठित वर्ग में तरह तरह की भ्रांतियां फैला दी हैं। मेरे विचार में वही इतिहास आज़ादी के बाद अब तक भी नई पीढ़ी को पढ़ाया जा रहा है। वर्तमान के पढ़े लिखे लोग सम्भवतः इस प्रसंग पर विश्वास नहीं करेंगे कि भारत में आदि काल से ही स्वर्ण और चांदी के भवन बनाए जाते थे। किन्तु ऐसे पाठकों के लिये मैं यही कह सकूंगा कि उन लोगों को तथ्यपूर्ण ग्रन्थों का विश्लेषण करके भ्रांतियां दूर करनी चाहिएं।

कुछेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी ऐसा आक्षेप किया है कि भारत में वैदिक युग में नागरिक जीवन विकसित एवं समृद्ध नहीं था। ऐसे विद्वानों में से मैकडानल और कीथ का एक उद्धरण इस प्रकार है:—

On the whole it is hardly, likely that in early vedic times City life was much developed.

यह बात प्रमाणित नहीं कही जा सकती है क्योंकि उक्त तत्वों के विषयों में वास्तु शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री दत्त महोदय ने अपनी पुस्तक "City planning in Ancient India" नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि "निश्चय ही वे लोग जो लोहे का निर्माण कर सकते थे, स्तम्भ बहुल विशाल भवनों के निवेश में दक्ष थे तथा सुदीर्घ पुरों का विन्यास कर सकते थे वे निश्चय ही नागरिक कलाओं के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नहीं कहे जा सकते"।

रामायण के युग तक भारतीय वास्तुकला उन्नति की चरमसीमा पर पहुंच चुकी थी इसके लिये बाल्मीकि रामायण में वर्णित अयोध्या नगरी का निवेश काफी महत्व रखता है।

"कपाटलोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभि:॥
सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम्॥
बधूनाटकसंङ्घैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।
उद्यानाम्रवनोपेतां महतीं सालमेखलाम्॥
दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।
वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः स्वरैस्तया॥
सामन्तराजसंङ्घैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।

नानावेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्॥
(बाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग -5- श्लोक 10-15)

अयोध्या नगरी के इस विचित्र निवेश को पढ़ कर सुश्री बहन निवेदिता ने "Civics and National Ideals" नामक पुस्तक में भारतीय वास्तुकला को महत्वपूर्ण बताया है।

सोने की लंका कोई काल्पनिक बात नहीं है। पिछले प्रसंग में सुवर्ण के बने हुए पुष्कर नामक भवन का उल्लेख हो चुका है। भारतीय वास्तुकलाविद आचार्य प्रसंन कुमार तथा पाश्चात्य विद्वान् हार्शिक्स महोदय ने भी इस विषय में ऐकमत्य प्रकट किया है। यदि कदाचित् बाल्मीकि रामायण के अयोध्या वर्णन को आलंकारिक कह कर उपेक्षित समझना चाहें तो ऐसी बात भी नहीं है। इस सम्बन्ध में विद्वान राजेन्द्र लाल मिश्र महोदय "इण्डो आर्यन" नामक अपनी पुस्तक में स्पष्ट लिखते हैं, "देवायतन सभा, प्रासाद, शिविर तथा विमानादि विभिन्न एवं विपुल संख्यक वास्तु शब्दों को अयोध्या वर्णन में बार-बार देखकर उस समय की अत्यन्त विकसित वास्तुकला का पूर्णभास नहीं प्राप्त होगा? क्या ये शब्द जो अत्यन्त उदीयमान वास्तुकला के अभिव्यंजक हैं, कभी छप्पर वाले मकानों अथवा झोंपड़ियों के लिए भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं? ऐसे नगर विवरणों को काल्पनिक अथवा कवि कल्पना की उड़ान कहना कहां तक न्याय संगत है।"

कौटिल्य अर्थशास्त्र में नगर निवेश (City Planning) दिया गया है। इसमें वास्तु सिद्धान्तों एवं उसके विवरणों पर लगभग सात अध्याय हैं जिनके सारे उद्धरण यहां प्रस्तुत करना अनुकूल न होगा।

ग्राम विकास की ओर

ग्राम शब्द बहुत पुरातन है और यह भी बात माननी पड़ती है कि ग्रामों का विकसित रूप ही नगर है। भारत आदिकाल में भी ग्राम-प्रधान रहा है और अब भी है। भारत में बहुत बड़े प्राचीन नगरों की आत्मकथा का आरम्भ एक छोटे से ग्राम की कहानी है। पाटलीपुत्र से बढ़कर कौन सा भारत का प्राचीन नगर था! पाटलीपुत्र की आत्मकथा का श्रीगणेश थोड़े से ग्राम से प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार अन्य नगरों का भी इतिहास है। यह बात प्रामाणिक है कि आदि कृत युग में महाराजा पृथु से पृथ्वी का विकास हुआ और राजा पृथु ने पर्वतमयी पृथ्वी को समतल बनाया तथा जहां तहां ग्रामों और नगरों आदि की स्थापना की। इस प्रसंग में सबसे पहले ग्राम के निर्माण का ही वर्णन है:—

"ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।

घोषान् व्रजान् सशिविरान् आकरान् खेटखर्वटान् ।।
प्राक् पृथोरिह नैवेषा पुरग्रामादि कल्पना ।
यथासुखं वसंति स्म तत्र तत्रा कुतो भयाः ।।

(श्री मद्भागवत स्कन्ध 4 अध्याय- 18 श्लोक 31-32)

उक्त वर्णन में पहले ग्राम शब्द आया है और उसके बाद पुर आदि । ऋग्वेद संहिता के निम्न मन्त्र में भी समस्त ग्राम की भद्रकामना व्यक्त की गई है।

"इमारुद्रायतवसेकपर्दिनेक्षयद्वीरायाप्रभंरामहेमती : ।
यथाशमसद्धिपदेचतुष्पदे व्विश्वम्पुष्टङ्ग्रामेऽस्मिन्ननातुरम् ।। "

(ऋग्वेद संहिता) ।

इस प्रकार यह तथ्य है कि आदि युग में ग्रामवास उत्तम समझा जाता था और उसके बाद धीरे-धीरे आवश्यकता अनुसार बड़े नगरों की आवश्यकता समझी गई तो ग्राम ही विकसित हो कर बड़े नगरों में परिणत हो गए तथा अब भी होते जा रहे हैं ।

वास्तुकला के उद्‌भव और विकास से सम्बन्धित चर्चा यहां अब पूर्ण हो रही है। अब सम्बन्धित हिमाचली क्षेत्र में वास्तुकला की परम्पराओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

हिमाचली क्षेत्र में वास्तुकला परम्पराएं

भारत के इतिहास में हिमालयी क्षेत्रों का अपना प्रमुख महत्त्व है । अब तो विद्वान् यह भी मानने लगे हैं कि आदि युग मे वैदिक वाङ्मय का आविर्भाव हिमालय के उत्तुंग शिखरों से ही हुआ था या यूं कहा जा सकता है कि आर्य-संस्कृति का आविर्भाव क्षेत्र हिमालय या हिमाचल ही है । आदि-शक्ति महामाया के श्रीमुख से निकला हुआ यह वाक्य महत्वपूर्ण समझना चाहिए :—

"पुनश्चाहं यदा भीमं रूपं कृत्वा हिमाचले।
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनिनां त्राणकारणात् ।।
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्तय : ।
भीमादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ।।

(मार्कण्डेय पुराण देवी महात्म्य 11अध्याय
श्लोक 50, 51) ।

उक्त पद से यह स्पष्ट होता है कि आदि काल से ही हिमाचल प्रदेश ऋषि मुनियों का निवास स्थान रहा है, अतः यहां के ग्रामों के भवनों का निर्माण देश-कालानुसार

आध्यात्मिक और सात्विक चेतना को लेकर किया जाता रहा है । आदि युग में हिमाचल का क्षेत्र शिव और शक्ति की क्रीड़ा-स्थली रही है । इसलिये इस क्षेत्र म सुवर्ण से लेकर तृण तक के भवनों का होना सम्भव हो सकता है किन्तु मध्ययुग में यहां के प्रत्येक स्थान पर विचित्र प्रकार के प्राचीन मन्दिरों का निर्माण यह प्रमाणित करता है कि पाषाणमय भवनों की वास्तुकला के शिल्प का यह क्षेत्र प्रकृष्ट महत्व रखता है । पिछले प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पाषाण से निर्मित भवन का नाम ही मन्दिर है । और यहां पर जितने भी देवपूजागृह हैं वे प्रायः पाषाण निर्मित हैं । इस लिए मन्दिर शब्द देव भवनों के लिए ही रूढ़ हो गया है । हिमाचली क्षेत्र की विचित्र वास्तुकला के प्रतीक यहां के प्रमुख मन्दिरों के संक्षिप्त इतिहास का उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है:—

हिमाचल प्रदेश के मन्दिर वास्तुकला के सुन्दर नमूने हैं । हिमाचल में 6,000 के लगभग मन्दिर हैं और पहाड़ों पर स्थित मन्दिर 6 प्रकार के हैं—(Cave, Shikara, Pagoda, Mandop, flat-roofed and gompas)–गुहा, शिखर, मण्डप, सम-छत्त तथा गोम्पा ।

मासरूर, बैजनाथ, बजौरा और चम्बा के मन्दिर वास्तुकला के सुन्दर नमूने हैं, ये मन्दिर 8वीं शताब्दी के लगभग बने हैं । ये मन्दिर उत्तर और दक्षिण कला को मिलाते हैं । इन मन्दिरों पर बारीकी से की गई मीनाकारी वास्तुकला का सुन्दर नमूना है । तिलोकपुर का शिव मन्दिर और बाबा देवट सिद्ध भी गुहा मन्दिरों के सुन्दर नमूने हैं ।

बैजनाथ में जो मन्दिर है वह शिखर नमूने का और समतल भूमि में बना हुआ है । इस मन्दिर में मूर्ति कला और वास्तुकला का आन्तरिक सम्बन्ध बहुत कलात्मकता पूर्ण है, वहां शिखर पत्थरों में मीनाकारी की गई है । मध्यअक्ष योजनानुसार निर्मित हैं ।

अन्य प्रसिद्ध शिखर मन्दिर हैं—बिजौरा का विश्वेश्वर महादेव (कुल्लू), चम्बा लाहौल का त्रिलोकनाथ जिसमें कि अवलोकितेश्वर का 6 भुजाओं वाला प्रतिरूप है। मण्डी का पञ्चवक्त्र और भूतनाथ का मन्दिर, चम्बा का लक्ष्मीनारायण, हरिराम और गौरी शंकर का मन्दिर तथा भरमौर का मनिमहेश का मन्दिर हिमाचली वास्तुकला के उत्तम नमूने हैं ।

पैगोडा मन्दिरों की बनावट अन्य पहाड़ी मन्दिरों से बहुत भिन्न है । इस नमूने के कुछ प्रसिद्ध मन्दिर इस प्रकार हैं :—मनाली का हिडिम्बा देवी का मन्दिर, नगर का त्रिपुरा सुन्दरी का मन्दिर, दयार में त्रियुगी नारायण का और आर खोकन का अद्ब्रह्म का मन्दिर । इसी प्रकार सराहण का सिद्ध भीमा काली का, कोठी का,

Scanned with CamScanner

चण्डिका देवी का और निचार का ऊषा देवी का मन्दिर भी पैगोड़ा नमूने के प्रसिद्ध मंदिर माने जाते हैं ।

मण्डप नमूने के मन्दिर जिनकी छतें सीधी होती हैं सिक्खों के गुरुद्वारों के नमूने में बनाए गए हैं जो मुख्यतः हिमाचल के नीचे के स्थानों पर अधिक हैं जिनमें ज्वालामुखी, चिन्तपूर्णी और रेणुका देवी के मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध गोम्पा मुख्यतः रिवालसर, रामपुर, लाहौल स्पीति और किन्नौर में देखने में आते हैं । वे आमतौर पर सीधी छतों वाले कमरों और खुले बराण्डों वाले होते हैं । कुछ प्रसिद्ध गोम्पा मन्दिर लाहौल और किन्नौर के जंगी तथा रारंग, कानम, काल्पा आदि स्थानों में स्थित हैं ।

भरमौर के लक्षणा देवी के मन्दिर और छतरारी के शक्ति देवी के मन्दिरों में लकड़ी पर की गई चित्रकारी देखने योग्य है तथा यह हिमाचली वास्तुकला का एक उत्तम नमूना है । महादेव का मगरू मंघर का मन्दिर अपने स्तम्भों, छत्रों तथा बनावट के द्वारा रामायण-काल की स्मृति दिलाता है, अर्थात् महाकाव्य रामायण में जिस प्रकार के मन्दिरों का वर्णन किया गया है यह मन्दिर उसी नमूने का बना हुआ है ।

हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त हिमाचल में अनेक ऐतिहासिक गुरुद्वारे भी हैं जैस पांवटा साहिब, रिवालसर और मण्डी के प्रसिद्ध गुरुद्वारे ।

वास्तुकला का एक और सुन्दर नमूना जिसमें चम्बा और भरमौर के मध्य रावी घाटी में स्थित शूलपाणि शिव और पार्वती अपने नन्दी के साथ हैं । यह मूर्ति प्रारम्भिक गुप्तकाल की प्रतीत होती है जिसपर गन्धार कला का प्रभाव है । शिव जी का ऐसा चित्र कुशान काल के कुछ सिक्कों पर भी प्राप्त हुआ है ।

8वीं शताब्दी में रिवालसर में पद्म सम्भव नाम के एक महान् बौद्ध भिक्षु रहा करते थे । बंगाल विहार से पाल राज्य के बड़े-बड़े विद्वान और शासक उनके पास आया करते थे । उस समय अयोध्या के राजाओं ने भी पाल राज्य के शासकों के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था । रिवालसर में पूर्वी और मध्यभारत के विद्वानों तथा शासकों के द्वारा यात्रा करने के कारण शिवालिक और इन स्थानों की संस्कृति और कला का आदान प्रदान हुआ । कुल्लू और चम्बा में अनेक बौद्ध-ताम्रपत्र मिले हैं जो शिवालिक और पूर्वी भारत के सांस्कृतिक आदान प्रदान की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार समय-समय पर सत्ताएं बदलती रहीं और अपनी-अपनी संस्कृति तथा कला का प्रभाव छोड़ गई जिससे नवीन वास्तुकला और संस्कृति का जन्म हुआ ।

पंजाब के मैदानी इलाकों से कुछ वास्तुकार जब पहाड़ की ओर आए तो कुल्लू के राजाओं ने उन्हें अपने यहां संरक्षण दिया । संरक्षण प्राप्त कर उन्होंने वास्तुकला

के विकास में अपना पूरा सहयोग दिया जिससे पहाड़ी और पंजाबी वास्तुकला का सम्मिश्रण हुआ । सिद्ध पाल और नागपाल जो कला और संस्कृति के महान् संरक्षक थे ।

बिलासपुर तथा उसके आसपास के भागों में जब चन्देलों का राज्य था उस समय शिवालिक पहाड़ अनेक भागों में विभक्त थे । उस समय कला के क्षेत्र में विशेष परिवर्तन हुआ तथा वास्तुकला ने प्राकृतिक तथा वास्तविक रूप धारण किया । पाषाण वास्तुविद्या का पहाड़ी तरीका भी इसी में एक रूप हो गया । मण्डी के त्रिलोकीनाथ का बहुत सुन्दर प्रतिरूप है, यह उस समय की वास्तुकला का महत्वपूर्ण नमूना है ।

जब मैदानी भागों में मुसलमानों के आक्रमण होने लगे तो शिवालिक की पहाड़ियों में वास्तुविद्या का विकास रुक गया और यह एक शरणार्थी का रूप धारण करने लगी । इसके पश्चात् फिर देवी-धर्म का उद्भव हुआ और प्रत्येक ग्राम के अपने-अपने मन्दिर बनने प्रारम्भ हो गए । जिसमें प्रत्येक ग्राम की अपनी-अपनी देवी मानी जाने लगी और मिट्टी तथा लकड़ी की मूर्तियां बनाई जाने लगी। और कुछ मन्दिरों में चान्दी सोना तथा अन्य धातुओं की मूर्तियां बनी । इस प्रकार हिमाचल प्रदेश में वास्तुकला की परम्परा बनी रही ।

हिमाचल में भवनों की विविध शैलियां

हिमाचल या हिमालयी क्षेत्र में भवन बनाने की वे सभी शैलियां देखने में आती हैं जो आदि युग से भारत भर में प्रचलित रही हैं । पिछले प्रसंग में पर्वतीय क्षेत्रों के मन्दिरों की विचित्र वास्तुकला का संक्षिप्त चित्रण किया गया है । पर्याप्त विचार के पश्चात् इन मन्दिरों की निर्माण शैली पर महाभारतकालीन भवन निर्माण शैली का प्रभाव प्रतीत होता है । बल्कि हिमाचल का सुविख्यात मन्दिर हाटकोटि का सिद्ध-शक्ति-पीठ तो पाण्डवों के समय का बना हुआ प्रतीत होता है ।

हाटकोटि का प्राचीन नगर शिमला से बासठ (62) मील पूर्व की ओर हिमाचल प्रदेश की जुब्बल तहसील में विशकल्टि और पब्बर नदियों के संगम पर दाहिनी ओर बसा है । यह नगर पुराने मन्दिरों, मठों तथा खण्डहरों के लिये बहुत प्रसिद्ध है और प्रति वर्ष हज़ारों यात्री दूर-दूर से इन मन्दिरों के दर्शन तथा पर्यटन के लिए जाते हैं । इन मन्दिरों तक पहुंचने के दो मार्ग हैं एक शिमला और दूसरा देहरादून से । शिमला से जाने वाले यात्री प्रातः आठ बजे की बस में बैठ कर चार बजे के लगभग हाटकोटि पहुंच जाते हैं । देहरादून से जाने वाले यात्री न्यूनी आराकोट नाम की वस्तियों से होते हुए हाटकोटि पहुंचते हैं । हाटकोटि के कोई तीन-चार मील के

Scanned with CamScanner

घरे में शिखर शैली के मन्दिर तथा पत्थर की मूर्तियां दखने में आती हैं । इन मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध मन्दिर दुर्गा और शिव के हैं । दुर्गा मन्दिर के साथ ही एक सनपुर नामक पहाड़ी हैं इसका एक शिखर भाग ऊपर से, सीधा है । यह कोई 500 गज लम्बी और 250 गज चौड़ी होगी। इस पहाड़ी पर पुराने खण्डरात है। जनश्रुति और वास्तुकला के आधार पर यह नगर महाभारतकाल से बसा हुआ लगता है और राजा विराट की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी थी।

भगवती दुर्गा माता की जो मूर्ति है वह भी महाभारत के समय की बनी हुई प्रतीत होती है । मूर्ति के पांव भूमि में इतने गहरे हैं जिनको अंग्रज़ों के समय में गहराई जानने के लिये खोदने की कोशिश की गई किन्तु सफलता नहीं मिली । मूर्ति पर एक लेख भी लिखा हुआ है जो अभी तक नहीं पढ़ा जा सका है । इसलिये जब तक वह नहीं पढ़ा जाता तब तक मूर्ति के समय का निर्धारण नहीं किया जा सकता । विद्वान एच० ए० रोज़ ने अपनी पुस्तक के पहले भाग में लिखा है कि "हाटकोटि की दुर्गा का इतिहास महाभारत से सम्बन्धित है" । इन आधारों से यह कहा जा सकता है कि बहुधा हिमाचल के मन्दिर भवनों की वास्तुकला अत्यन्त प्राचीन है ।

पिछले प्रसंग में चौदह प्रकार के भवनों का वर्णन किया गया है, जिनमें पत्थर के पक्की ईंटों के, कच्ची ईंटों के केवल लकड़ी के, बांस के, घास के और मिट्टी के भवनों का उल्लेख है । अब भी हम देखते हैं कि देशकाल और जलवायु के अनुसार हिमाचली क्षेत्र में उक्त प्रकार के भवन पाए जाते हैं । पत्थरों के भवनों की शैली केवल मन्दिरों के निर्माण के लिए ही प्रतिष्ठित हो गई। पक्की और कच्ची ईंटों के मकान भी यहां पर जहां-तहां मिलते हैं । घास के छप्पर और उष्ण स्थानों में जहां पर काष्ठ का काफी अभाव है, बांसों के बने हुए भवन तथा बर्फानी क्षेत्रों में अधिकांश लकड़ी के प्रयोग से सुसज्जित भवन एवं केवल मिट्टी के दीवारों वाले भवन— ये सभी प्रकार के भवन आज भी देखने को मिलते हैं ।

अधिकांश भवन मिट्टी की दीवारों और शीत प्रधान क्षेत्रों में लकड़ी के प्रयोग वाले भवन पाये जाते हैं । हिमालयी भवनों के निर्माण में सुदृढ़ता और कम लागत का तथा सर्दी गर्मी को सहन करने की उपयोगिता का विशेष ध्यान रखा जाता है। शीत प्रधान प्रदेशों में यदि मकानों में लकड़ी का अधिक प्रयोग न किया जाए तो अधिक ठण्ड पड़ने के कारण वे मकान निवास के योग्य नहीं होते ।

जहां पर लकड़ी कम होती है और उष्णता का अधिक प्रभाव रहता है वहां पर मिट्टी की दीवारों (मटकन्ध) सतह मकान, यहां तक की कहीं कहीं मिट्टी की छत वाले मकान (खुड़) बहुत उपयुक्त रहते हैं।

उद्घाटनावसर पर अध्यक्षता करते हुए डा० परमार, अकादमी के अध्यक्ष श्री प्रार्थी मुख्य अतिथि का स्वागत करते हुये ।

Scanned with CamScanner

मिंजर मेले के अवसर पर अकादमी द्वारा आयोजित कविसम्मेलन में प्रार्थी जी कविता-पाठ करते हुये।

मकानों के ढकने के लिए अधिकांश पत्थर (सलोट) का प्रयोग होता है। हिमालयी भवनों के निर्माण में जो सामग्री प्रयोग में आती है उनमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे बाहर से आयात करना पड़े। आस पास के क्षेत्र में ही मिट्टी, पत्थर और लकड़ी व पानी ये सब चीजें सुलभ होती हैं। आज के युग में प्राचीन काल से चली हुई हिमालयी भवनों की निर्माण शैली सुदृढ़ता की दृष्टि से तथा कम खर्च की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी समझी जा सकती है किन्तु युग की दौड़ में वहां की ये परम्पराएं अब समाप्त होने जा रही हैं। छतों के लिए चदरों का प्रयोग और सीमेंट का प्रयोग तो आर्थिक दृष्टि से तथा हिमालयी क्षेत्रों की जलवायु की दृष्टि से काफी हानिप्रद सिद्ध हो रहा है। इसलिए महंगाई के इस युग में प्राचीन कालीन उपयोगी भवन-निर्माण-कला की ओर देश का ध्यान अवश्य जाना चाहिए।

काष्ठकला

हिमालयी क्षेत्रों में दरवाजों और खिड़कियों में तथा दीवारों पर, लगे काष्ठफलकों पर काष्ठ कला के अनेक नमूने अब भी देखने को मिलते हैं जो प्रदेश के शिल्पियों की विचित्र कलाकारिता का प्रमाण है। राजमहलों एवं ग्रामों के आवासों तक कुछ क्षेत्रों में काष्ठ फलकों में विचित्र प्रकार के चित्रों का अंकन व बेल बूटों का काम महत्व-पूर्ण समझा जा सकता है। एक स्थान में मुझे एक शिल्पी का बनाया हुआ भवन का दरवाजा देखने को मिला जिस पर की गई खुदाई को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ तथा पूछताछ करने पर पता चला की इस द्वार की आयु डेढ सौ वर्ष के लगभग है। आशय यह है कि अंग्रेजी शासन काल में भी हिमालयी क्षेत्र के शिल्पियों का गौरव काफी वृद्धि पर था। दूर दराज के गांव में अब भी ऐसे बयोवृद्ध शिल्पी मिलेंगे जो भारत के प्रमुख शिल्पियों में गिने जा सकते हैं। किन्तु उन्हें किसी प्रकार का भी प्रश्रय न होने के कारण देश की प्राचीन वास्तुकला अब लुप्त होने जा रही है। प्राचीन शैली के भवन-निर्माण में निपुण भला वे अपनी कारीगरी क्या दिखा सकते हैं! पीढ़ी दर पीढ़ी काम करने वाले वे शिल्पी प्रदेश में आज आर्थिक संकट से ग्रस्त हीनता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस प्रकार के शिल्पियों को खोज कर सम्मान और पुरस्कार द्वारा हिमालयी काष्ठ कला को पुन: जीवित करने की नितांत आवश्यकता है।

हिमालयी क्षेत्र के मन्दिरों, राजप्रासादों व अन्य भवनों की दीवारों पर की गई रंग, शिल्प तथा काष्ठ चित्र कला भारत के किसी भी क्षेत्र से कम नही कहीं जा सकती।

गृह निर्माण में मुहूर्त शोधन की वैज्ञानिकता

प्राय: भारत के सभी प्रदेशों में प्रत्येक कार्य दैवज्ञ से मूहूर्त संशोधन करके कराया जाता है। किन्तु हिमालयी क्षेत्रों में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इस विषय को अत्यन्त प्राथमिकता दी

Scanned with CamScanner

जाती है। आज के वैज्ञानिक युग ने ज्योतिष-विज्ञान की प्रामाणिकता पूर्णतया सिद्ध कर दी है। अब इस क्षेत्र में सन्देह के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। भवन बनाने के लिए सबसे पहले भूमि-चयन ज्योतिष शास्त्र में आवश्यक कहा गया है और कहा गया है :–'चतुर्हस्तं द्विहस्तं वा जलान्तं वाऽपि शोधयेत्' (लिङ्ग पुराण) अर्थात् ज़मीन को चार हाथ या दो हाथ अथवा जब जमीन में पानी निकल आए, खोदे। यदि भूमि में हड्डी, बाल या कोई अपवित्र वस्तु निकले तो उस स्थान में भवन न बनाए। फिर वहां पर यदि ईंट का मकान बनाना हो तो ईंटों की लम्बाई चौड़ाई के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया गया है :–

इष्टकास्तु स्सुपक्काः स्युः द्वादशाङ्गुल सम्मिताः। विस्तारस्य त्रिभागेण वैपुल्येन समन्विताः॥ (अग्नि पुराण)।

गृह-निर्माण के लिये मुहूर्त विचार करते समय वत्सचक्र की शुद्धि प्रमुख मानी गई है। ये वत्सचक्र सूर्य नक्षत्र के आधार से शुद्ध किया जाता है। जिस दिन भवन बनाना आरम्भ करना हो उस दिन के नक्षत्र तक सूर्य से गणना करने से प्रारम्भ के सात नक्षत्र हानिकारक और आगे के ग्यारह नक्षत्र शुभ और अन्त के दस नक्षत्र फिर हानिकारक माने गए हैं।

सूर्य प्राणी के रहन सहन, आहार, स्वास्थ्य ह्रास-विकास की पोषक शक्ति है। भवन में सूर्य की किरणों का ठीक सन्तुलन देखना बहुत आवश्यक है जो नक्षत्रों के बल से ही देखा जा सकता है। बिना मुहूर्त शोधन किए बने हुए मकानों में निवास करने से तरह तरह की विपत्तियां व कई प्रकार के रोग व कलह तथा संतति नाश आदि फल बताए गए हैं। आज का मानव चाहे इस में विश्वास करे या न करे किन्तु वह यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि बाहर के देशों में लाखों करोड़ों की लागत से बने हुए ऐसे अनेक भवन आज भी हैं जिनमें कोई निवास नहीं कर सकता और कहा जाता है कि इनमें रात को भूत और पिशाच आते हैं। इस लिए हिमालयी भवन आज भी मुहूर्त शोधन करके बनाए जाते हैं और उसके निर्माण के प्रारम्भ में तथा प्रवेश के समय में वास्तु पूजा और बलिदानादि कर्म सम्पन्न होते हैं। वास्तु पूजा का भी एक वैज्ञानिक रहस्य है। इस पूजा में इकासी (81) कोष्ठों का वास्तु-मण्डल बनाया जाता है। जिसमें सम्बन्धित देवताओं का आह्वान और पूजन होता है। भारतीय अंक विद्या अपना प्रमुख महत्व रखती है। इकासी का मूल अंक नौ है, नौ का अंक गणित शास्त्र में परिपूर्ण अंक माना गया है। इस लिए नौ अंक वाले इकासी कोष्ठ के वास्तु-मण्डल का पूजन भवन की अक्षुणता और स्थिरता का प्रतीक कहा जा सकता है। इसी प्रकार की पूजा का महत्व अग्नि पुराण आदि में स्पष्ट किया गया है।

"रक्षो मातृगणेभ्यश्च पिशाचादिभ्य एव च।
पितृभ्यः क्षेत्रपालेभ्यो बलीन् वद्यात् प्रकामतः॥ (अग्नि पुराण)।

"रक्षोघ्नेनायमानेन सूक्तेन भवनाविकम्।
नृत्यमंङ्गलवाद्यैश्च कुर्यात्, ब्राह्मण वाचनम्॥
अनेन विधिना यस्तु प्रतिसंवत्सरं बुधः।
गृहे वायतने कुर्यात् न स दुःखमवाप्नुयात्॥
न च व्याधिभयं तस्य न च बन्धु धन क्षयः।
जीवेत् वर्ष-शतं स्वर्गे कल्पमकं वसेन्नरः॥ (मत्स्य पुराण)

वास्तु पूजा और बलिविधान में देवताओं से लेकर पिशाचों तक का अनुग्रह प्राप्त किया जाता है। वास्तु पूजा का विधान यदि प्रति वर्ष प्रत्येक घर में किया जाए तो उस घर में निवास करने वाले सदा ही सुख शन्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घायु प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय वास्तु-विद्या के साथ कला और विज्ञान दोनों ही समन्वित हैं और हिमालयी वास्तुकला में आज भी इनके अवशेष अधिक मात्रा में पूर्ववत् विद्यमान हैं।

भविष्य कुछ बदलता हुआ देखने में आ रहा है और इतनी तेजी से बदल रहा है कि जो भी नये भवन बनते हैं या बनाने जा रहे हैं उनका ढंग-ढांचा हिमालयी प्रदेशों से सर्वथा प्रतिकूल लग रहा है। अच्छा हो यदि नई शैली के साथ पुरानी का संगम करते हुए प्रगति का पथ अपनाया जाय।

कलाकार अपनी इच्छाओं से भी विशाल है।
उसकी भाव-राशि अथाह एवम् अचिन्त्य है।
—मैक्सिम गोर्की

Scanned with CamScanner

लोक संस्कृति

हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक विविधता इस क्षेत्र में निवास करने वाली प्राचीन जातियों के सम्बन्ध में प्रमाण प्रस्तुत करती है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन काल में इस क्षेत्र में कोल वंश के लोग निवास करते थे। अनुमान है कि हिन्दु धर्म व संस्कृति में नाग व गणेश आदि पशु-देवता इसी जाति की देन हैं। कुछ विद्वान इस क्षेत्र में नाग जाति का होना भी मानते हैं। एक दूसरी जाति का उल्लेख भी मिलता है जिसे किन्नर-किरात कहा जाता है। ये लोग हिमालय की तराइयों में यत्र तत्र बसते थे और शिव लिंग की पूजा करते थे।

हिमालय-संस्कृति का महत्वपूर्ण परिवर्तन आर्यों की एक शाखा कुलिन्दों के आने से हुआ। कालान्तर में कुलिन्द ही खशों के नाम से अभिहित हुए और काश्मीर के नाम 'खशीर' में अपनी छाप छोड़कर इन पर्वतों की तलहटियों में आगे बढ़े। किन्नर किरातों के साथ खशों के अनेक युद्ध हुए होंगे और उन्होंने जिन स्थानों को छोड़ा होगा उन पर खश जाति अपना अधिकार जमाती गई।

स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन किन्नर तथा किरातों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करना कठिन मानते हैं। वे कहते हैं कि किन्नरों का देश एक समय में हिमाचल में गंगा के पण्ढर से पश्चिम में सतलुज और चन्द्रभागा (चिनाब) के पण्ढर तक फैला हुआ था और किरात गंगा के पण्ढर के पूर्वी छोर में नैपाल तक फैले हुये थे। इस जाति के अवशेष अब भी हिमाचल प्रदेश में चम्बा में, लाहौल तथा स्पीति आदि में मिलते हैं।

खश वैदिक आर्यों से भी पूर्व इस क्षेत्र में आ गए थे और उनका वर्णन मनुस्मृति, पुराणों और महाभारत में भी आता है। वायु पुराण में कहा गया है-"खश एक जाति थी, जिसे राजा सगर नष्ट करना चाहते थे, पर वशिष्ठ की कृपा से वह बच गई।"

प्राचीन जातियों के उल्लेख का आशय इतना ही है कि इस क्षेत्र में समय समय पर विविध संस्कृतियों के लोग आकर बसते रहे और एक दूसरे की मान्यताओं को प्रभावित करते रहे। ये संस्कृतियां कालान्तर में एक दूसरे में इस प्रकार विलीन हो गई कि वर्तमान समय में इनमें विविधता में एकता हो गई और इस प्रकार इस क्षेत्र के विभिन्न वर्गों के लोगों की एक विशिष्ट एवम् महात्वपूर्ण संस्कृति बन गई। वर्तमान हिमाचल प्रदेश के लोगों की यही धरोहर आज मानव मूल्यों का अध्ययन मनन करने वाले जिज्ञासुओं के लिये महत्वपूर्ण सामग्री है।

हिमाचल का लोकनाट्य-करियाड़ा

—श्रोम चन्द हाण्डा

साल भर खेतों में कमरतोड़ मेहनत करने के बाद, सर्दियों में पहाड़ों में राहत के दिन होते हैं। गेहूं बीज देने के पश्चात् खेतों-खलिहानों में विशेष कार्य नहीं रह जाता, और शीतागमन के साथ प्रकृति भी हिम-धवल श्वेत चादर ताने शीतस्वापित हो जाती है। पहाड़ों में यह काल करियाड़ा-मनोरंजन तथा कहानियों आदि का होता है। कथा-कहानियां जहां पारिवारिक चार-दिवारियों तक ही सीमित रहती हैं, करियाड़ा का क्षेत्र अधिक विस्तृत तथा सामाजिक होता है।

दिवाली के बाद करियाड़ा-कलाकार, जिन्हें स्थानीय बोली में 'करियाड़ची' कहा जाता है, अपनी मण्डलियां गठित करना आरम्भ कर देते हैं और अपना साज-सामान समेटे रात्रि-मनोरंजन के लिये विभिन्न गांवों की ओर निकल पड़ते हैं। कांगड़ा जनपद में इन कलाकारों को 'भगतिये' या 'रासधारिये' कहा जाता है। पहाड़ी पगडण्डियों पर ये लोक-कलाकार हाथ में चिमटा थामे तथा कन्धे पर ढोलकी और साज-सज्जा का गट्ठर लटकाये इन दिनों कहीं भी देखे जा सकते हैं। दीवाली तथा बैसाखी के मध्य दिनों में ये लोक-कलाकार गांव-गांव घूम कर करियाड़ा प्रदर्शन करते फिरते हैं।

करियाड़ा लोक-नाट्य हिमाचल के लोक-जीवन की अन्तरंग झांकी इन्द्रधनुषी रंगों में बहुविध प्रस्तुत करता है। यहां का हर्ष-विषाद, प्यार-द्वेष सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि सभी मूल मानवीय अनुभूतियां करियाला लोक-नाट्य द्वारा विभिन्न लोक-सम्मत प्रतीकों के माध्यम से मुखर होती हैं। विभिन्न हिमाचली जनपदों में अलग-अलग नाम से जाना गया यह लोक-नाट्य बिना किसी पूर्व-निश्चित योजना के मंच-हीन प्रकृति के मुक्त प्रांगण में पहाड़ों के साये तले आयोजित किया जाता है। मण्डी जनपद में इसे 'बांठड़ा', बिलासपुर में 'स्वांग', शिमला में 'करियाड़ा'[1] तथा कांगड़ा में 'भगत्' कहा जाता है। यह लोक-नाट्य हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक परम्परा—उसके सर्वदा बदलते रूप, समसामायिक प्रभाव—का मुखर प्रदर्शन करता है।

करियाड़ा का विकास

संभवतः करियाड़ा लोक-नाट्य का विकास किन्हीं धार्मिक मान्यताओं से प्रेरित रहा है। इन्हीं मान्यताओं के अनुरूप इसका विषय-विस्तार भी आदिम युग में

(1) 'करियाड़ा' को हिमाचल के अधिकांश क्षेत्र में 'करियाला' भी कहा जाता है।

Scanned with CamScanner

किसी प्रागैतिहासिक घटना का द्योतक नहीं। हुआ होगा। 'आदिम' शब्द पहाड़ी परिप्रेक्ष्य में काल-सीमित नहीं रहा है और यहां का लोक-जीवन समय के बंधनों से मुक्त किसी भी घटना को 'आदिम' की ही कोटि में रखा जाता समय के बंधनों से मुक्त है, भले ही वह घटना कुछ शताब्दी पहले की ही क्यों न हो। मूलतः करियाड़ा मनोरंजन का साधन नहीं रहा है और न ही आज भी अपने मूल रूप में इसका उद्देश्य मनोरंजन है। भले ही इसका बाह्य रूप-विस्तार मनोरंजन के प्रति समर्पित लगता है।

आज भी करियाड़ा 'जाग' का आयोजन ग्रामवासी अपनी किसी मनौती के पूरा हो जाने पर करते हैं। इसके लिये करियाड़ा-मण्डल को निमंत्रण दिया जाता है। आतिथेय-परिवार अपने सगे-सम्बधियों को भी इस 'जाग' में आमंत्रित करता है जैसा की किसी भी धार्मिक समारोह के लिये अपेक्षित रहता है। आमंत्रित लोगों के रात्रि-भोज का जिम्मा भी आतिथेय-परिवार का ही होता है। परन्तु पहाड़ी गांवों में संयुक्त कुटुम्बीय व्यवस्था होने के कारण यह भार एक ही परिवार पर नहीं पड़ता। अतिथियों को रात्रि-भोज के लिये विभिन्न परिवारों में बांट दिया जाता है। इस प्रथा को कई स्थानों पर "ठेला" कहा जाता है।

करियाड़ा-स्थल के मध्य अलाव की स्थापना भी 'जाग' की सार्थकता को सिद्ध करती है। 'जाग' पहाड़ी बोली में धार्मिक जागरण का पर्याय है। मण्डी में इसे 'जागरा' तथा कांगड़ा में 'जगाता' कहा जाता है। रात भर के लम्बे जागरण के लिये अलाव की आवश्यकता सर्वमान्य है। सर्दी की लम्बी रातों के बोझिल रतजग्गों को सरस बनाने के प्रयास में ही संभवतः करियाड़ा का विकास हुआ होगा। कालान्तर में, बदलती परिस्थितियों में पहाड़ी गांवों में, जहां रात्रि-मनोरंजन के कोई भी साधन उपलब्ध नहीं रहे हैं, करियाड़ा अपने मनोरंजनात्मक कलेवर के साथ आधुनिक संस्करण के रूप में विकसित हुआ। चम्बा का 'नवाड़ा', ऊपरी शिमला का 'शान्त' तथा 'भोज' और 'करियाड़ा' एक ही आदिम धार्मिक अनुष्ठान के विभिन्न रूप सहज ही में स्वीकारे जा सकते हैं जो अपने विस्तृत रूप में स्थानीय मान्यताओं और आवश्यकताओं के अनुरूप अपने अलग-अलग रूपों में विकसित हुये।

करियाड़ा का आधुनिक आकार निश्चित रूप से सत्तरहवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं। वैष्णव धर्म के प्रसारण के कारण सत्तरहवीं शताब्दी के आसपास पहाड़ी क्षेत्र में एक नवीन धार्मिक-चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। उसी प्रभाव के अनुरूप वैष्णव धर्म के आराध्य राम-कृष्ण तथा अन्य वैष्णव देवताओं की भक्ति का प्रसार भी इस क्षेत्र में हुआ। वैष्णव-भक्ति आन्दोलन के साथ साथ आन्दोलन के आराध्य राम तथा कृष्ण को समर्पित खड़ी बोली में रचित भक्ति-गीत स्थानीय लोग भी भक्ति-भाव से गुनगुनाने लगे जो आज भी विकृत रूप में गांवों में प्रचलित हैं।

ये गीत तथा भजन खड़ी बोली के विकृत शब्द-विन्यास और स्थानीय पहाड़ी बोलियों की आंचलिकता लिये होते हैं। करियाड़ा में गाये जाने वाले इस प्रकार के कुछ गीतों की बानगी देखिये :—

"पहले गणपति पूजिये पाछे करिये काज,
सभा बैगानी बैठी के लाज रखे महाराज।"

सीता राम भजो राधे श्याम भजो,
कट जायेंगे पाप मेरे।
तूने सबकी बिगड़ी बनाई,
प्रीत चरणों से लगाई।

करियाड़ा की प्रमुख नायिका 'चन्द्रावली' इसी वैष्णव-धर्म की देन है। वास्तव में चन्द्रावली कृष्ण की एक गोपी का नाम था। चन्द्रावली के साथ एक पुरुष-चरित्र भी रहता है जिसे 'डोंगरा कान्ह' कहा जाता है। संभवतः यह चरित्र कृष्ण के ग्वाल रूप का परिचायक है। भक्ति आन्दोलन के प्रसार के साथ-साथ नौटंकी का प्रभाव भी पहाड़ी लोक-नाट्य परम्परा पर पड़ा और एक नये संस्करण के रूप में यह कला-विद्या अपने आधुनिक रूप में विकसित हुई।

परन्तु वैष्णव प्रभाव सारे प्रदेश की लोक-नाट्य परम्परा पर समान रूप से पड़ा हो, ऐसा नहीं। कांगड़ा जनपद के अतिरिक्त अन्य स्थानों में बाहरी वैष्णव प्रभाव छितराया सा और आंचलिक ही है जो प्रदेश के जन-जातीय क्षेत्रों में और भी क्षीण हो गया है। कांगड़ा के 'भगतू' में वैष्णव प्रभाव सुस्पष्ट तथा परिमाणतः परिष्कृत है। वहां रास लीला, कृष्ण लीला तथा 'पूर्ण भक्त' आदि नाटकों का काफी प्रचलन रहा है। इसका प्रमुख कारण यह रहा कि वैष्णव धर्म का प्रसार पहाड़ी क्षेत्र में कांगड़ा जनपद से ही आरंभ हुआ और वहीं वह प्रभाव अपना विशिष्ट स्थान भी कायम कर सका। प्रदेश के भीतरी भागों में यह प्रभाव बिखरा हुआ सा ही रहा। परिणामतः प्रदेश के भीतरी भागों में करियाड़ा कार्यक्रम में जहां वैष्णव भजन गाये जाते हैं वहां साथ ही ज्वालामुखी माता की भेंटें भी गाई सुनी जाती हैं। कांगड़ा का 'भगतू' इस दृष्टि से नीर-क्षीर विवेकी है।

पहाड़ी जनपदों में साल भर अनेक 'जाग' मनाये जाते हैं। परन्तु किसी न किसी जन-जातीय देवता को समर्पित होने के कारण ये 'जाग' अपेक्षित अनुशासन में बन्धे रहते हैं और इसी कारण से इस प्रकार के सभी जन-जातीय 'जाग' वैष्णव प्रभाव से मुक्त रहे परन्तु करियाड़ा 'जाग' किसी जन-जातीय देवता विशेष को समर्पित न होने के कारण वैष्णव प्रभाव में अपने मूल रूप से विकृत हो गया। बिलासपुर

अंचल में प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार, वहां 'स्वांग' बलिबाबा सिद्ध चानो के प्रति की गई मनौती के रूप में रचा जाता है ।

आधुनिक रूप

करियाड़ा लोक-नाट्य एकांकी, प्रहसन, नृत्य तथा संगीत आदि का सामूहिक रूप है । परन्तु करियाड़ा में इनका समावेश विभिन्न जनपदों में स्थानीय लोक-रुचि-सुचि के अनुकूल ही होता है । करियाड़ा कलाकारों की श्रेष्ठता भी इन्हीं के आधार पर आंकी जाती है । अच्छी करियाड़ा-मण्डली के कलाकार जहां लोक-नृत्य तथा लोक-गीतों से समा बांधने के लिये प्रसिद्ध हैं वहां कई कामचलाऊ व्यावसायिक मण्डलियां घटिया स्तर के प्रहसन तथा फिल्मी गीतों की भद्दी नकलों द्वारा पैसा कमाने का धन्धा भी करती हैं ।मण्डी जनपद में 'घासणू' तथा 'बटेहड़े' गांव के करियाड़ची, शिमला में शकरोड़ी तथा शाकरा (करसोग) के करियाड़ची, सोलन में धामी के तथा बिलासपुर में पंजगांई के करियाड़ची प्रसिद्ध हैं । करियाड़ची कलाकार सामान्यतः कोली नामक अनुसूचित जाति के लोग होते हैं परन्तु कई स्थानों पर ब्राह्मण आदि जातियों के लोग भी 'करियाड़ा' में भाग लेते हैं ।

एकांकी 'करियाड़ा' का प्रमुख अंग है । सामान्यतः एकांकी समसामायिक सामाजिक समस्याओं पर आधारित रहते हैं और इन समस्याओं का समाधान भी इनमें निहित रहता है । यह सब कुछ लोक-मान्य प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा लाक्षणिक ढंग से अभिनीत किया जाता है । कलाकारों तथा दर्शकों के मध्य इन्हीं प्रतीकात्मक माध्यमों से सम्प्रेषण होता है ।

अनेक नाट्य-एकांकी, नृत्य तथा गीत आदि स्थानीय लोक-गाथाओं तथा पौराणिक आख्यानों पर भी आधारित होते हैं परन्तु पौराणिक विषयों पर आधारित एकांकियों का प्रचलन अधिकतर सोलन, बिलासपुर, मण्डी, कांगड़ा आदि जनपदों के बाहरी भागों में ही है । प्रदेश के भीतरी भागों में प्रहसन, लोक-गीत तथा नृत्यादि ही अधिक पसन्द किये जाते हैं । जन-जातीय क्षेत्रों में तो लोक-गीत और नृत्य ही रात्रि-मनोरंजन का साधन रह जाते हैं । वहां लोग लकड़ी के मुखौटे पहन कर भी नृत्य करते हैं । इस प्रकार के प्रदर्शन केवल नृत्य ही न रहकर (आपेरा) नाट्य-नृत्य बन जाते हैं ।

कई बार दर्शकों में से किसी विशेष गीत अथवा नृत्य का आग्रह रहता है जिसे सहज ही पूरा किया जाता है । संतुष्ट श्रोता-दर्शक एक-दो रुपये की विशेष भेंट कलाकार को देता है । इस प्रकार की भेंट के प्रति आभार प्रदर्शन की एक बानगी देखिये:—

"जय जननी ज्वालामुखी खूब रचाईयो खेल,
एक रुपया श्री......ने दिया उनकी बधावे बेल ।"

नौटंकी में प्रचलित 'थाली फिराने' की प्रथा का भी अब कई स्थानों में रिवाज बन गया है । भेंट अथवा थाली फिरा कर अर्जित राशि आतिथेय द्वारा दी गई मनौती से अलग होती है । कई करियाड़ची-मण्डल केवल 'थाली फिराकर' पैसा कमाने के उद्देश्य से ही करियाड़ा के मौसम में गांव-गांव प्रदर्शन करते फिरते हैं ।

पौराणिक विषयों पर आधारित नाटकों में देवताओं के दूत—नारद मुनि—की भूमिका सबसे रोचक मानी जाती है । स्वर्ग, मृत्युलोक तथा पाताल की दूरियों को फांदते नारद मुनि स्वर्ग-पाताल की घटनाओं को लोक-सुलभ बनाते हैं और कलियुगी मृत्युलोक की 'बेहाल' रिपोर्ट देवताओं तक पहुंचाते हैं । इस दौड़-धूप में देवताओं के दूत की व्यथा-कथा दर्शकों को मुक्त हास्य में सराबोर कर देती है । नारद मुनि का अभिनय तथा संवाद सभी में गहरी मनोरंजक भावना रहती है ।

सामाजिक विषयों पर आधारित एकांकी तथा प्रहसन बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप बदलते रहते हैं । आजकल के लोकप्रिय विषय परिवार-नियोजन, विवाह-प्रथा में सुधार तथा उन्नत कृषि आदि विषयों पर आधारित हैं । आज का ग्रामीण समाज वर्तमान के प्रति कितना सजग है, इसका अन्दाजा इन सामाजिक एकांकियों के विषयों से सहज ही लगाया जा सकता है ।

गोधुली बेला उतरते ही दर्शकों के समूह गांव के किसी खुले प्रांगण में, जिसे 'आखाड़ा' कहा जाता है, एकत्र होना आरम्भ हो जाते हैं । आखाड़े के मध्य में अलाव जलाया जाता है, जिसके चारों ओर दर्शक सिमिट आते हैं । कुछ ही दूरी पर किसी ओट में, करियाड़ची-कलाकार विभिन्न चरित्रों में अपना बनाव-शृंगार करते हैं । स्त्रियां करियाड़ा में भाग नहीं लेती । स्त्री तथा पुरुष दोनों ही चरित्र पुरुष कलाकारों को निभाने होते हैं । चाय के बढ़ते रिवाज के कारण गांव का कोई दुकानदार आखाड़े के एक कोने में छोटी सी चाय की दुकान लगा लेता है ।

साज-सज्जा का सामान अधिकांशतः कलाकार स्थानीय रूप से ही जुटा लेते हैं । नकली बालों के लिये 'ब्यूहड़' वृक्ष के रेशों (जिसे स्थानीय बोली में 'सेल' कहा जाता है) का तथा भेड़ों आदि के बालों का प्रयोग किया जाता है । अन्य शृंगारिक उपकरण जैसे काजल आदि भी कलाकार अपने आप तैयार कर लेते हैं । चावल का आटा अथवा चूना भी 'मेकअप' के लिये प्रयोग किया जाता रहा है । परन्तु अब कई स्थानों पर बाजार में उपलब्ध बनी बनाई शृंगारिक वस्तुओं तथा उपकरणों का प्रयोग भी होने लगा है ।

करियाड़ा का आरम्भ चन्द्रावली (कई स्थानों पर चन्द्रौली भी कहा जाता है) के आगमन के साथ होता है । चन्द्रावली मंच पर आते ही अलाव की प्रदक्षिणा करती है और वाद्य कलाकारों तथा दर्शकगणों के ऊपर जलते धूप का पात्र घुमा

Scanned with CamScanner

कर वातावरण को पवित्र करती है । कई स्थानों पर चन्द्रावली के साथ एक ग्रन्य चरित्र भी रहता है जिसे 'डांगरा कान्ह' कहा जाता है । वाद्य कलाकार उस समय जंग ताल बजाते हैं जो नृत्य की चाल के साथ द्रुत गति पर पहुंच जाती है । चन्द्रावली आवेश में कुछ समय नृत्य करती रहती है, वाद्य यंत्र बजते रहते हैं । ग्रौर फिर जैसे समय थम सा जाता है, वातावरण सहम सा जाता है.....सब शान्त हो जाता है । सहसा भीड़ को फांदता हुआ, ग्रलख जगाता हुआ एक दाढ़ी-मूञ्छ वाला व्यक्ति मंच की ग्रोर लपकता है । ग्रभी तक दर्शकों का ध्यान उस ग्रोर से हटा भी नहीं होता कि दो साधु ग्रलग-ग्रलग कोनों से मंच की ग्रोर लपकते हैं । सारे वातावरण में हलचल सी मच जाती है ।

"ग्ररे ये मारीच ग्रौर सुबाहु इस जाग में कहां से ग्रा टपके!" एक दर्शक की ग्रावाज़ ग्राती है ।

"भाई, ये राक्षस नहीं, करियाड़ा कलाकार "बुद्धिमान साधु" का प्रहसन प्रस्तुत करने मंच पर ग्रा रहे हैं, " दूसरा दर्शक वस्तुस्थिति स्पष्ट करता है ।

तो ग्रब स्वांग ग्रारंभ हो गये । "बुद्धिमान साधु" का स्वांग सबसे लोकप्रिय प्रहसन माना जाता है । दो साधु बुद्धिमान व्यक्तियों का ग्रभिनय करते हैं । ये कलाकार कई प्रकार के दृष्टांतों तथा पौराणिक उद्धरणों से दर्शकों को ज्ञान की सीख देते हैं ग्रौर तीसरा साधु दो बुद्धिमानों द्वारा प्रतिपादित ग्रच्छे-बुरे, ऊंच-नीच के भेद-भाव को उसी प्रकार चौपट करता चलता है जैसे हल द्वारा बनाई गई खाइयों को 'म्याड़ा'[1] हमवार बना देता है । इस प्रकार तीसरे साधु का हास्यप्रद ग्रभिनय दर्शकों के लिये मुक्त हास्य का केन्द्र बन जाता है । कांगड़ा में मसखरे का ग्रभिनय करने वाले कलाकार को 'डण्डू' तथा बिलासपुर तथा मण्डी ग्रंचलों में 'बौरा' कहते हैं । बिलासपुर में 'बौरा' के ग्रभिनय को विशेष महत्व दिया जाता है । वहां 'बौरा' ग्रभिनय की पराकाष्ठा पर ग्रलाव में कूदना, ग्रंगार खाना तथा चिनगारियां उगलना जैसे रोमांचक ग्रग्नि-नृत्य का प्रदर्शन करता है ।

ग्रन्य लोकप्रिय प्रहसन 'पत्नी के लिये झगड़ा,' 'भगोड़ी लड़की', 'साहुकार तथा उसका सेवक,' 'नागिन' तथा 'पिलपिली साहिब' ग्रादि हैं । 'पिलपिली साहिब' में नौकर शाही पर तीखा व्यंग्य है ।

विनोद करियाड़ा का प्राण है । संवादों को ग्रधिक सरस तथा विनोदपूर्ण बनाने के लिये कई बार ग्रश्लील शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है । वास्तव में संवादों में ग्रश्लीलता का ग्रांचलिक प्रयोग युवक दर्शकों में मुक्त हास्य ग्रौर स्त्रियों तथा

1. इसे 'मेड़ा' भी कहते हैं । हल जोतन के पश्चात् इस ग्रौज़ार से खेत समतल बनाया जाता है । इसे हिन्दी में 'सुहागा' कहा जाता है ।

वृद्धों में घुटी हंसी की लहर सी दौड़ा देता है । करियाड़ा के संवाद कभी लिखे नहीं जाते वे बहुधा तुकान्त ग्रौर पद्य-बद्ध ही हुग्रा करते हैं । कलाकार स्थिति के ग्रनुसार अपनी सूझ-बूझ से सहज ही में उपयुक्त संवाद गढ़ लेते हैं । कई वर्षों के ग्रभ्यास से कलाकार रोचक ग्रौर विनोदपूर्ण संवाद सहज में ही गढ़ लेने में व्यावसायिक दक्षता प्राप्त कर लेते हैं । तब भी करियाड़ा में प्रयुक्त संवाद ग्रधिकांशतः दोहराये नहीं जाते । संवादों की भाषा हिन्दी, पंजाबी तथा स्थानीय बोलियों की खिचड़ी सी होती है । कई बार संस्कृत के श्लोकों का भी प्रयोग संवादों में किया जाता है । ये श्लोक निश्चित रूप से शैक्षणिक महत्व के ही होते हैं । एक बानगी देखिये :

"माता शत्रु पिता बैरी येन वाले पाठयन्ति,
शोभन्ते सभा मध्ये हंस मध्ये च काकवाम् ।"

संवादों में भाषागत शुद्धता को जितना ध्यान दिया जाता है, यह ऊपरोक्त उदाहरण से ही स्पष्ट है ।

कई बार, जब कलाकार संवाद गढ़ने में ग्रसफल रहता है, वह शारीरिक भंगिमाग्रों द्वारा अपना भाव प्रदर्शन करने का प्रयास करता है । यह स्थिति कलाकार के लिये भले ही संकटपूर्ण हो पर दर्शकों के लिये काफी मनोरंजक तथा विनोदपूर्ण होती है ।

एकांकी तथा प्रहसनों के ग्रन्तराल में लुड्डी, नाटी ग्रथवा गिद्धा, नृत्य ग्रौर लोक-गीतों का समा भी बंधता है । नृत्य ग्रादि पर प्रदेश के बाहरी भागों में ग्रधिक ध्यान नहीं दिया जाता । वहां ग्रधिकतर प्रहसन ही पसन्द किये जाते हैं । इसके विपरीत चम्बा, कुल्लू एवम् ग्रन्य जन-जातीय ग्रंचलों में तो सारी रात सामूहिक नृत्य ही चलते रहते हैं । ये नृत्य सामान्यतः जंग, कहरवा ग्रौर दादरा ग्रादि लोकप्रिय तालों पर ही किये जाते हैं । ग्रधिकांशतः प्रयोग में लाये जाने वाले वाद्य-यंत्र चिमटा, ढोलकी, नगारा, ढोल, शहनाई तथा बांसुरी ग्रादि हैं । कई बार हिरनसींगा तथा करनाल का प्रयोग भी किया जाता है । इन सब वाद्य-यंत्रों में शहनाई तथा नगारे का स्थान सर्वोपरि है । किसी भी पहाड़ी वृन्दवाद्य में शहनाई तथा नगारे का होना एक परम ग्रावश्यकता मानी जाती है । बहुधा वादक कलाकार ग्रनुसूचित जाति के व्यावसायिक श्रेणी के लोग होते हैं जिन्हें स्थानीय बोली में 'हेसी' ग्रथवा 'तूरी' कहा जाता है । चम्बा में सामूहिक नृत्यों के ग्रवसर पर गद्दी लोग एक विशेष वाद्य-यंत्र 'जंग' का भी प्रयोग करते हैं । इस यंत्र को दांतों में दबा कर बजाया जाता है । कहते हैं यह भगवान शिव का वाद्य-यंत्र रहा है । शहरी प्रभाव के ग्रन्तर्गत ग्रब कई स्थानों में हारमोनियम का प्रयोग भी होने लगा है

नाटी नृत्य पहाड़ी लोक-नृत्यों में से सर्वाधिक लोकप्रिय है । यह सामूहिक मुक्त-नृत्य कई घण्टों तक ग्रविरल चलता रहता है । थके-हारे लोग बीच-बीच में पंक्ति से छिटकते चले जाते हैं ग्रौर उनके स्थान पर ग्रन्य लोग ग्रा जुड़ते हैं । इस प्रकार

नाटी व्यवधान-मुक्त कभी मन्द और कभी द्रुत तालों पर चलती रहती है । बीच में हाथों की हिल्लोरें तथा उल्लासपूर्ण 'हुशे' अलसाये पैरों को गतिशील बनाये रखती हैं । नाटी में दर्शक तथा कलाकार का भेद नहीं । सभी एक साथ दर्शक तथा कलाकार होते हैं ।

स्थानीय लोक-प्रिय धुनों पर गाये गये लोक-गीत भी करियाड़ा के मुख्य अंग हैं। लोक-गीतों की धुनें अधिकांशतः स्थानीय 'पहाड़ी' तथा 'झंझोटी' रागों में बद्ध होती है । कई स्थानों पर फिल्मी गानों का भद्दा प्रयोग भी होने लगा है ।

करियाड़ा निर्वाध गति से रात भर चलता रहता है । सवेरा होते-होते दर्शक अपने अपने घरों को लौटना आरम्भ कर देते हैं । अलसाई पहाड़ों की चोटियों पर नव-भोर जब अंगड़ाई लेती सी अपनी सुनहली चादर बिखेरती है, तो करियाड़ची-कलाकार अपने साज-सामान को समेट कर अगले गांव के लिये प्रस्थान की तैयारी में जुट जाते हैं ।

करियाड़ा लोक-नाट्य जहां पहाड़ी लोक-जीवन की सांस्कृतिक परम्परा के कई लुके-छिपे संदर्भों को अति साधारण तथा सुस्पष्ट ढंग से आलोकित करता है, वहां इसमें शहरी प्रभाव के कारण छिछलापन तथा विकृतियां आती जा रही हैं । दिशाहीन सुधारवाद की होड़ में यह विधा अपनी परम्परागत गरिमा को भूलती जा रही है। वादक कलाकार शहनाई के स्वर-माधुर्य को भूल कर हारमोनियम का प्रयोग करन लगे हैं । तबला नगारे का स्थान ले रहा है । लोक-गीतों का स्थान फिल्मी गानों की घटिया अनुकृतियां लेती जा रही हैं । यह परिवर्तन किसी भी मानदण्ड से सराहा नहीं जा सकता । वस्तुतः पहाड़ी लोक-गीतों का अपना एक निश्चित समां है, उसमें निहित एक निश्चित स्वच्छन्द अनुभूति है जिसे केवल शहनाई और नगारे के साथ ही उतारा-संवारा जा सकता है । इस काम में हारमोनियम तथा तबला घटिया अनुकल्प ही माने जायेंगे । इसी प्रकार अभिनय तथा साज-सज्जा में भी फिल्मी प्रभाव के अन्तर्गत घटिया प्रयोग होने लगे हैं । करियाड़ा लोक-नाट्य फिल्मी तकनीक पर उभर नहीं सकता और न ही इस प्रकार का प्रयास समीचीन ही है । परिणामतः फिल्मी तकनीक से प्रभावित प्रयोग इस लोक-नाट्य में केवल विकृतियां ही लायेंगे । आज आवश्यकता है कि करियाड़ा की पारम्परिक गरिमा को सुरक्षित रखते हुये उसके कलेवर में अर्थपूर्ण सुधार लाये जाय ताकि यह लोक-नाट्य, नाट्य-कला-जगत में पहाड़ी लोक-मंच के रूप में सम्मानित स्थान प्राप्त कर सके ।

कांगड़ी लोकगीतों में कल्पना का स्वरूप

—डा० गौतम शर्मा 'व्यथित'

(क) कल्पना

कल्पना शब्द 'कल्पनम' से सम्बन्धित है । इसका सामान्य अर्थ 'रचना' या 'बनाना' लिया गया है । यह शब्द अंग्रेजी के इमेजीनेशन 'Imagination' के पर्याय रूप में लिया जाता है। जिसका अर्थ है—रूपों की सृष्टि करना । इस शब्द में मूल शब्द Image मूर्ति अथवा रूप का द्योतक है । अतः इसे कवि का वह क्रिया-व्यापार कहा गया है जिसके द्वारा वह रूपों अथवा मूर्ति की सृष्टि करता है । मानसिक रूपविधान अथवा बिम्ब निर्माण करने वाली शक्ति के कारण इसे काव्य की विधायिनी शक्ति भी कहा गया है । यही वह शक्ति है जिस के द्वारा कवि एक वस्तु में अन्य का आरोपण कर नूतन सृष्टि करने में सफल होता है । अतः कल्पनारूपों की सृष्टि और रचना उसका मुख्य धर्म है । इसी शक्ति में सत्य एवम् सौंदर्य की सृजनात्मक शक्ति है ।

समग्रतः कल्पना एक विधायिनी शक्ति है जो कवि अथवा लेखक की सृजना में सजीवता एवं आकर्षण उत्पन्न कर उसे हृदयग्राही तथा सौंदर्यमयी बनाती है । इसी शक्ति के योग से साधारण कथन भी असाधारण तथा अरूप वस्तुयें सरूपमयी प्रतीत होती हैं । कल्पना ही सृष्टि के अनुभूत तत्वों तथा भावों को सम्प्रेषणीय बनाकर पाठक के लिए सुगम एवं सुबोध बनाती है ।

(ख) लोकगीतों में कल्पना का स्वरूप

लोकगीत लोकमानसी ऐसे दर्पण हैं जिनमें लोकमनोभूमि विविध रूप एवं दिशाओं में प्रतिम्बित होती है । लोकमानस की सूक्ष्म अनुभूतियों एवं क्रिया-व्यापारों को सरल तथा सर्व ग्राह्य बनाने में कल्पना का महत्वपूर्ण योग रहता है । परन्तु यह अपने स्वरूप में सहज तथा घनिष्ट है । सहज इसलिए कि इसकी सृष्टि प्रयासजन्य न होकर स्वाभाविक होती है । इस में किसी प्रकार का बाह्य प्रयास नहीं रहता । घनिष्ट इस दिशा में कि इसके बिना गीतों के माधुर्य तथा काव्यत्व की संभावना नहीं की जा सकती ।

काव्य चाहे वह शिष्ट काव्य हो अथवा लोक काव्य, दोनों का आधाररूप तत्व बिम्ब है । काव्यगत उत्कृष्टता का एक मात्र कारण और कसौटी कल्पना का स्वच्छ बिम्ब निर्माण होता है । इसी आधार पर किसी भी रचना की कलात्मकता और महानता आश्रित रहती है ।

लोकगीतों के संदर्भ में भी उपर्युक्त काव्यगत विशिष्टता के लिये कल्पना की अनिवार्यता अनुपेक्षणीय है । इन गीतों में कल्पना का स्वरूप कैसा है, यह अवश्य विचारणीय है । ये गीत अपढ़ अथवा अनगढ़ लोगों की संरचनाएं हैं जिन्हें वे अवकाश के क्षणों अथवा दैनिक कार्य में व्यस्त अनायास, निरुद्देश्य रचते रहते हैं । इन की रचना का कौन सा स्थल कलात्मक बन पाया है, कहां विशिष्ट तत्वों का समावेश हुआ है, लोकगीतकार इस दिशा में तनिक नहीं सोचता । वह तो केवल हृदयगत भावों को स्वर देता आनन्दित होता है । कोई उसकी काव्यरचना को उठाकर काव्य-तुला पर परखने का प्रयास करेगा, उसे इसकी न तनिक चिन्ता है न विशेष उत्कंठा । वह ऐसा कोई उद्देश्य लेकर कोई ऐसी रचना नहीं करता । वह तो प्रकृति के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार करता, उन में अपनी भावनाओं का विस्फोट पाता, उस से तादत्म्य स्थापित करता सहजता में ही गुनगुना उठता है । एकान्त क्षणों में संजोये उस के 'बोल' पुनरावृत्ति में विकास पाते सम्पूर्ण लोक में एक गीत का रूप लेकर फैल जाते हैं, जिसे सारा लोकमानस अपनी पैतृक सम्पदा मानता बड़े गर्व से परम्परित रखता चला आता है ।

अतः लोकगीतों में कल्पना का स्वरूप सहज, स्वाभाविक तथा लोकमानसी वृत के भीतर ही घूमता प्रतीत होता है । विविध भावाभिव्यक्ति, बिम्बयोजना आदि में जो कल्पना के रूप मिलते हैं वे पूर्णतया सरल तथा आंचलिक कहे जा सकते हैं । संस्कार गीतों में कहीं-कहीं वस्त्राभूषण तथा समृद्धि वर्णन में कल्पना का स्वरूप अस्वाभाविक सा बनता महलों के झरोखों से झांकता मणिमुक्ताओं की बोरियां भरता दिखाई देता है । अतिरंजनापूर्ण ऐसे स्थलों के संदर्भ में यह कहना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि ऐसी रचनाओं में लोक ने अपने अभावपूर्ण जीवन को वाणी दी है । परन्तु अन्यत्र इस का स्वरूप स्वाभाविक है।

समग्रतः लोकगीत-परम्परागत रचनायें हैं । इनका सृजक लोकमानस है । अतः इन में कल्पना के नवोन्मेषी-व्यापार प्रायः कम दृष्टिगोचर होते हैं । इनमें पुनरुत्पादक कल्पना का क्षेत्र व्यापक है । नायक-नायिका-रूप चित्रण, रंग योजना, श्रृंगार के संयोग-वियोग चित्रण, नीति तथा इतर विषयों में परम्परागत वर्णन ही उपलब्ध होते हैं । ऐसे वर्णन पुतुरुत्पादक कल्पना की देन हैं । जहां-कहीं कारयित्री-कल्पना ने कार्य दिखाए हैं वहां विषय विभिन्नता, असंगति आदि दोषों के कारण लोकगीतों की मर्यादा लंगड़ाती दिखाई देती है ।

(ग) कांगड़ी-लोकगीतों में कल्पना का स्वरूप

कांगड़ी-लोकगीतों का सम्बंध कांगड़ा जनपदीय लोकगीतों से है । भौगोलिक दृष्टि से इन गीतों का क्षेत्र-विस्तार धौलाधार के आंचल में फैले पालमपुर, कांगड़ा

नूरपुर, तथा देहरा उपमण्डलों के मध्यवर्ती भाग कहे जा सकते हैं । इन गीतों का विषय-विस्तार अत्यन्त व्यापक है । जीवन की जन्म से मृत्यु पर्यन्त समस्त भावनायें हर्ष-विषाद, सुख दुःख, रोग-शोक, नृत्य-गान, आदि सब कुछ इनमें परम्परित तथा व्यंजित मिलता है । अध्ययन की दृष्टि से इन गीतों को मुख्यतः संस्कार गीत, धार्मिक गीत, वीर गीत, प्रणयगीत, श्रमगीत, ऋतुगीत तथा विविध गीतों के आधार पर वर्णित किया जा सकता है। इन के पुनः आगे कई भेदोपभेद किये जा सकते हैं ।

इन गीतों का अन्तरंग अत्यन्त विशद तथा व्यापक है । ये गीत प्रायः संक्षिप्त तथा भावप्रधान हैं । विषय व्यापकता इन का मुख्य लक्षण है । जीवन का प्रत्येक पक्ष इनमें मुखरित हुआ है । मानव जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना को इन में वाणी मिली है । इनमें व्यंजित भावनायें तथा उनका अभिव्यंजना-शिल्प साहित्यिक रचनाओं की सहज मनोभूमि बनने की व्यापक क्षमतायें रखते हैं । कविता मानव-हृदय से सीधा फूटने वाला प्रकृति-गान है । कृत्रिम सभ्यता के प्रकाश में इसकी वैकासिक संभावनायें कम रहती हैं । कल्पना की निराधार अटकलें लगाना लोक-कवि का स्वभाव नहीं । न ही इन में किसी प्रकार के झूठे प्रदर्शन को अवकाश मिलता है। लोकगीतों के सम्बन्ध में व्यक्त एक विद्वान के विचार कि "ये गीत तो उन जलधाराओं के समान हैं जिनमें स्वाभाविक लय, ताल एवं थिरकन होती है, जो रस, लय और माधुर्यपूर्ण होते हैं" । विवेच्य गीतों में उपर्युक्त समस्त विशेषताओं का सहज सन्निवेश मिलता है । इन्हीं विशेषताओं के कारण ये गीत बिना किसी प्रेरणा तथा संकेत एवं प्रोत्साहन के लोक-कंठ का हार बन जाया करते हैं ।

(घ) कल्पना-परीक्षण के मुख्य आधार

समग्रतः ये गीत मुक्त हृदय का मुक्त गान हैं । इनमें जड़ प्रकृति भी चेतन रूप धारण कर मनुष्य की सहचरी बनी व्यक्त हुई है । इनमें कांगड़ी लोकजीवन में परिव्याप्त मानवीय सुख-दुःख आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, तृष्णा, तृप्ति, संकोच, घृणा, शौर्य, भय अर्थात सम्पूर्ण जीवन प्रतिबिंबित मिलता है । इन गीतों में प्रायः जनसामान्य प्रतीति के विषय ही व्यंजना का आधार बने हैं । मूलतः इनमें कल्पना का पुनरुत्पादक रूप ही कार्य करता है । अध्ययन-सुविधा की दृष्टि से इन गीतों में कल्पना के स्वरूप को निम्नलिखित आधारों पर परीक्षित किया जा सकता है:—

(1) कांगड़ी लोक गीतों में बिम्ब विधान ।

(2) कांगड़ी लोकगीतों में अप्रस्तुत विधान ।

(3) कांगड़ी लोकगीतों में प्रतीक योजना ।

विम्ब विधान

अमूर्त भावों को मूर्त सौंदर्य बिम्बों में स्थापित करना ही काव्य की सार्थकता है।

Scanned with CamScanner

लोकगीतों में भी मूर्त सौंदर्य द्वारा अमूर्त भावों को बड़ी सरलता से अभिव्यंजित किया मिलता है। लोकगीतकार लोक भावनाओं को बिम्बों के सहज तथा स्वाभाविक प्रयोग द्वारा बड़ी सरलता से व्यंजित करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से "संवेदन" ज्ञान का प्रथम सोपान है। यही कल्पना द्वारा स्वतन्त्र अथवा संश्लिष्ट हो कर सहजानुभूति में विम्ब का रूप धारण करता है। संवेदन संख्या में तीन हैं—विशेष, आंगिकि और गति सम्बन्धी। इसी संख्या के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने बिम्ब के भी इतने ही रूप माने हैं। इसी प्रकार काव्य में रसानुभूति को आधार मानते हुए विद्वानों ने इसके तीन भेद माने हैं। अधिकांशतः विद्वानों ने इसके वर्गीकरण का आधार वस्तु, भाव, अलंकार, इन्द्रियां आदि स्वीकृत किया है। परन्तु ऐसे सभी वर्गीकरण अपनी-अपनी सीमा में ही सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। बिम्ब अपने क्षेत्र-विस्तार में अत्यन्त विशद है। इनकी परि-सीमा में एन्द्रिय, अनुभूति तथा आंगिक एवं गति सम्बन्धी व्यापार समाहित रहते हैं।

विवेच्य गीतों में उपलब्ध बिम्ब रूप

लोक गीतों में बिम्ब निर्माण प्रक्रिया बड़ी सहज तथा स्वाभाविक है। लोकगीत रसानुभूति के विषय हैं। कल्पना-व्यापार के चमत्कार की संभावना इनमें प्रायः कम ही रहती है। लोक—कवि लोक के फलक में जो कुछ देखता, सुनता, अनुभूति करता अर्जित करता है उसे ही प्रत्यक्ष, कल्पित तथा स्मृत- विधान द्वारा लोक के सामने प्रस्तुत करता है। अतः विवेच्यगीतों में बिम्ब योजना के परीक्षण हेतु हमें निम्नलिखित वर्गीकरण अपनाना तर्कसंगत प्रतीत होता है—

1. वस्तु विम्ब, 2. भाव बिम्ब, 3. अलंकृत विम्ब 4. ऐन्द्रियक बिम्ब, 5. विवृत-विम्ब।

वस्तु विम्ब

ऐसे विम्बों में वस्तु परकता की अधिकता रहती है लोक कवियों की रचनाओं में वस्तु परकता एवं इतिवृत्तात्मकता के अनेक चित्र मिलते हैं। जो संचेतन तथा गति शील दोनों प्रकार के हैं। :—

(1) संचेतन एवं रेखा बिम्ब

विवेच्य गीतों में वस्तु-विम्ब के अनेकों उदाहरण सहज सुलभ हैं। निम्नलिखित सोहर

में रेखा विम्ब का रूप द्रष्टव्य है :—

जंघांतां होइयां कन्तां सेल पराल,
पिठ्ठी तां होया लसकारा ऐ।
मेरा तां तेरा गोरिये बड़ा ओ प्यार,
मरे कने बोल्यां मग्दे बोल ऐ।

पंलगे ते उतरी कन्ता पीहड़े जे बैठे,
होये न घोड़े ते सुआर ए।
अगें तां अगें कन्ता अपूं जे चलदे,
पिच्छें तां चलदे चरुएदार ऐ।

दाईये नी माईये भित्तां घुआड़,
गोरिया जो होया लसकारा ऐ।
कोठिया डेरा दाईये, ओबरे बच्छाए,
गारिया दी करयां रखवाली ऐ॥

प्रस्तुत बिम्ब गर्भवती नायिका का है जो प्रसव पीड़ा से आकुल व्याकुल हिलने जुलने में पूर्णतया असमर्थ है। प्रसव पीड़ा से उसके प्राण निकल रहे हैं। धाये के तुरन्त न पहुंचने की सूचना तो उसे और भी आहत कर रही है। वह जीवन तथा मृत्यु से घिरी है। इस चित्र में न रंग योजना है, न रेखाओं की विशदता। परन्तु उसकी गोचरता मन में वैसा ही दुःख-दर्द, मृत्यु-शंका, पीड़ा आदि को साकार वनाती है। इसी प्रकार एक प्रणय-गीत का उदाहरण प्रस्तुत है :—

आरें आरें रांझू दी जानी चली,
लोको डोला चलेया।

पारें पारें फुलमू दी लास चली,
गल्लां होई बीतियां !
रखा तां कहारो मेरी पालकिया,
फुलमू जो दाग लगाणा जानी!
गल्लां होई बीतियां !

बायें हत्थे रांझूऐ चिखा जे चिणी,
दहणे हत्थे लाया लाम्बू जानी !
गल्लां होई बीतियां !

प्रस्तुत बिम्ब ऐसे प्रेमी नायक का है जो सामाजिक बन्धनों के आगे घुटने टेक कर अन्यत्र व्याहने चढ़ता है। परन्तु उसकी प्रेमिका 'फुलमू' उस के इस कृत्य पर

पछताती, विरह व्यथा में सर पटकती दम तोड़ देती है । एक ओर उसका डोला जा रहा है दूसरी ओर उसकी प्रेमिका फूलमू की अर्थी उठाए लोग जा रहे हैं । चिर काल की व्यथा से आहत राझू वैवाहहिक मर्यादाओं को तोड़ कर उसका अन्तिम संस्कार करता उसी के साथ स्वाहा हो जाता है ।" दोस्ती नी लाणी फुलमू कुआरयां कनें अमूर्त मनकी अमूर्त दशा को लोक कवि ने इस बिम्ब से स्पष्ट गोचरता प्रदान की है । इस प्रकार के असंख्य संवेतन तथा रेखाचित्र विवेच्य गीतों के विभिन्न रूपों में अभिव्यजित मिलते हैं ।

गतिशील बिम्ब

बिम्ब के इस रूप में गति, ताल और लय का विशेष नियोजन मिलता है । गूजरी गीत में दूध वेच रही गोपीका एक चित्र प्रस्तुत है :—

ऐसे बिम्ब लोक कवियों ने जीवन के दैनिक व्यापार उत्सव ऋतुपर्व, मास, श्रमगीत, खेत खलिहान आदि विविध श्रेणियों से ग्रहण किये हैं ।

अनी मेरी गूजरी !
चन्दवो चढ़ें चन्द्रावली मेहरी,
लो बो लगें मयरा-नागरी ।

तू वो हसें तेरा मुख वो हसौला,
कनें हस्सें तेरे सरे दा सलूआ
अनी मेरी गूजरी ।

तेरे सरे पर मटकी, तू चलनी ऐ अटकी,
तू गुजरी मेरे मने बसी ऐ ।
अनी मेरी गूजरी ।

प्रस्तुत 'गूजरी' में गोपबाला के दूध दही के क्रय विक्रय के साथ कृष्ण का उसके रूप पर आसक्त होने का भव्य चित्र मिलता है, जिसमें पूर्ण प्रसंग गतिमान हुआ है । यहां केवल गति के आधार पर ही उभरने वाला बिम्ब छाया-प्रकाश के चल-चित्र सा स्वाभाविक एवं चारू बन गया है । रंग एवं ध्वनि प्रयोग का पूर्ण अभाव है । इसी प्रकार इन गीतों में कृष्ण के बालरूप का वर्णन भी गति शील बिम्बों द्वारा बड़ी स्पष्टता से उभरा है । "झमाकड़ा" नामक हास्य व्यंग्य सम्बन्धी वैवाहिक गीत में भी समस्त वातावरण गतिमान हो उठा है । प्रत्येक भाव के साथ साथ गति बदलती जाती है और निहित भावों में तीव्रता आती है । स्त्रियों की नृत्य मुद्रायें, झीना-झपटी, हास परिहास आदि का समूचा बिम्ब छाया-प्रकाश के चल-चित्र सा सहज एवं चारू बन गया है ।

लोहड़ी गीतों में तो गतिशील बिम्बों की भरमार है । निम्न लिखित "घरमुण्डू" देखिये :—

(क) कपन छुरी भई कपन छुरी,
थर थर कम्बे राजपुरी ।

राज-पुरी ते आये थे,
नौ सौ तीर मंगाये थे ।
छोटेयां भाईयां बाहे थे,
बडेयां भाईयां लुणे थे ।
ओर-मोर काला कोट ॥

(ख) हरण-मंगे तिल चोलें दे,
लाल गुड़े दी रोड़ी दे,
हरण गिया खेड़िया,
टोप्पा पाया पेड़िया,
हरणे लाई सिंगे दी,
हंडी भज्जी हिंगे दी,
टक्कू मटक्कू तिल चौलिया दा फक्कू ॥

प्रस्तुत बिम्ब अपने आप में पूर्ण हैं । शब्दों में निहित ताल तथा लय बिम्ब को साकार बनाते "घरमुण्डू" तथा "हरण" गाते बच्चों का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं । समूचा वातावरण 'माघी' के प्राकृतिक नाद से गूंजता प्रतीत होता है । शब्दगत ताल तथा लय बच्चों की थिरकन से साम्यता पाकर पूर्ण दृश्य साक्षात हो उठता है । ऐसे ही अनेकों बिम्ब कांगड़ी लोक गीतों के अनेक रूपों में सहज उपलब्ध हैं ।

(2) भाव बिम्ब

भाव्य-बिम्बों के मूर्तिकरण में ही उनके बिम्ब विधान का गौरव है । बिम्बों की सर्वाधिक अपेक्षा अमूर्त भावों के प्रत्यक्षीकरण में ही रहती है । अमूर्त भावों के लिए बिम्ब सर्वथा अनिवार्य हैं । उनके योग के बिना वे संवाहित हो ही नहीं सकते । विवेच्य गीतों के बिम्ब-शिल्प का उत्कृष्ट रूप ऐसे ही संयोजन में हैं । श्रृंगार की विरहगत भावनाओं में नायक-नायिका की मनःस्थितियों के अनेक रूपों को कवियों ने स्वाभाविक रूप से बिम्बान्वित कर जन-सम्पर्क दिया है । उनकी पीड़ा, दुःख, विछोह को सार्वभौम बनाया है । निम्नोद्धत बिम्ब विरह का दारूण रूप प्रस्तुत करता है :—

हरियें नी भरियें सब्ब खजूरे, पतलू जिन्हां दे पीलें हो ।
कंदलू जिन्हां दे सदा मुसाफर, नारां दे क्या हीले हो ।

राज बिना कोई राजा जे झूरे, बैद बिना कोई रोगी ओ।
ओ कंत बिना कोई नार जे झूरे, तिन्नौ फिरन बजोगी ओ।
टुटेया-फुटेया फटा पुराणा, कोई नी सींदा दरजी ओ।
दिलां दा महरम कोई नी मिलया जे मिलया, अलगरजी ओ।।

इस में प्रत्येक अमूर्त को मूर्त किया गया है। आद्योपान्त एक कसक है। शब्द-शब्द में विरह-भावनायें अपने तीव्र रूप में उठ रही हैं।

इस उदाहरण में पूर्ण विम्ब हैं। गर्भ धारण की स्वाभाविक प्रक्रिया के अदृश्य भावों को हल, बैल, क्यारी तथा बीज रूप में केसर, मोती के उपमानों का सहज प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है। इसी प्रकार विरह-जन्य पीड़ा को मीन के रुपक द्वारा भी बड़ी सरलता से व्यंजित किया गया है।

उत्प्रेक्षाओं के सम्भावित सादृश्य द्वारा भी लोक कवियों ने अनेक विशद बिम्बों की रचना की है। प्रस्तुत बिम्ब इसी प्रकार का है :—

खुहे पर खड़ोतिये मुटयारे नी,
पाणी दा घुट पिया बांकिये नारे नी।
* * *
तेरे जिहे दो छोकरे सपाहिया जी!
साढ़े बापुए दे चरूऐदार जांदेया राहिया जी!
तेरे तां जिम्रां दो नारियां पतलिये नारे नीं!
साढ़ी माऊ दीयां पनिहार पतलिये नारे नीं।

लोक कवियों ने रूप सादृश्यता हेतु उत्प्रेक्षापूर्ण बड़ी बड़ी विचित्र परिकल्पनायें की हैं। प्रत्येक दिशा में उनकी सूक्ष्म सूझ तथा गहन अनूभूति का परिचय मिलता है।

(3) ऐन्द्रियक बिम्ब

लोक गीतों में भाव-प्रधानता रहती है। अतः इनमें एक ही बिम्ब में अनेक ऐन्द्रियक संस्पर्श मिलते हैं। ये स्पष्ट रूप में मन को आन्दोलित करते तदनुरूप भावों की सहजानुभूति में योग देते हैं। एक उद्धरण देखिये :—

छणकण लगी आरसी, छणकण सुन्ने दे बारे,
नी हरियावल गीगा पालणा!
पंज रुपये दाईया जो दिनियां,
कुच्छड़ मिलिया ऐ भाईया।
नी हरियावल गीगा पालणा!

यहां अनेक ऐन्द्रिय संस्पर्शों द्वारा इच्छित भाव-निर्वाह के लिए लोक-कवि ने इस गीत में एकाधिक बिम्बों द्वारा विरहोद्दीप्ति में तीव्रता लाने का सफल प्रयास किया है। इसी प्रकार विरह-विछोह सम्बन्धी अनेक गीतों में बिम्ब के इस रूप के व्यापक चित्रण मिलते हैं। यथा :—

(1) घड़ा भरणा गरारियाकने, खून सुकं फिकरें ओ जानी।
झूरें पिंजरा लमारिया कने, गंगिये बदाम रंगिये।।

(2) उच्चीया डालियां नी माए! काग उड़ी बोंहदा,
अज कुन्हीं परौहणे औणा मेरी माता जी।

तेरा सेंह कन्त नुहें, मेरा सेंह पुत्र,
उन्नी परौहणें औणा मेरी नुहें।
पहलें तां दिन्दी सस सुकी-मुकी रोटियां,
अज किम्रां पूरियां बणाईयां ऐ।
* * * *
पहलें तां दिन्दी सस टुटड़ा मंजोलू,
अज किम्रां पलंग ते पीहड़ा, मेरी ससु जी।

(3) नी तेरी सोह भली होई जाण पच्छाए,
सूलिया टंगोई गई जान।

उपर्युक्त गीतांशों में तथा अन्य परम्परित लोकगीतों में जीवन सम्बन्धी नानाविध भावों को भाव-बिम्बों द्वारा बड़ी सहजता से रूपायित किया गया है। भय, वीरता, दुखः-निराशा, हर्ष, व्यंग्य-विनोद, सौंदर्य, अनिश्चितता, मृत्यु-भय, विषाद, प्रणय-वियोग, करुणा, चिंता, शाप, संयोग आदि भाव लोक-व्यापी वस्तुओं के बिम्बों द्वारा बड़ी सूझ से व्यंजित किये गये हैं।

(4) अलंकृत बिम्ब

"बिम्बों की छाया-प्रकाश, गति-ध्वनि, और तरलता के विस्तार की वास्तविक भूमि अलंकार है। जहां कहीं अलंकार होगा, वहां बिम्ब अवश्य होगा, क्योंकि अलंकार तो चमत्कार का वाचक है। अलंकार के सभी कुलों में बिम्ब की महती संभावनायें रहती हैं।" समग्रतः अलंकार बिम्बों की अभिव्यक्ति के सरल माध्यम हैं। विवेच्य गीतों में सबसे अधिक अभिव्यंजना-अभिव्यक्ति अलंकारों के सहज प्रयोग के माध्यम से हुई है। ऐसे प्रयोगों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का समान अनुपात मिलता है। परन्तु लोककवियों की अलंकार-योजना सायास न होकर नैसर्गिक है। विवेच्य गीतों

में उपलब्ध अलंकृत बिम्बों के कुछ रूप द्रष्टव्य हैं :—

नी मेरा कांगड़ा देस न्यारा,
डुघी डुघी नदियां, सैली-सैली धारां,
छैल छैल गभरू बांकियां नारां,
बोलण बोल पियारा ।
नी मेरा कांगड़ा देस न्यारा ।।

चिब-चिब, चिब-चिब चिड़ुआ जे करदा,
उड़ी-उड़ी, उड़ी-उड़ी;
डाली डाली बौंहदा ।
बोलें बोल पियारा। नी मेरा कांगड़ा०।।

प्रस्तुत अनुप्रास में चाक्षुषता के उभार का विविध आयामिक रूप है, जिसमें गति, नाद तथा रंग आदि का संश्लिष्ट रूप मिलता है। शब्दों की आकृति से ध्वनि सौंदर्य गहरे और मन्द बहते नदी नाले विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों की मधुर ध्वनियां, पक्षियों का फुदक फुदक कर एक डाली से दूसरी डाली पर बैठने आदि सम्बन्धी समस्त अदृश्य चित्र पाठक के सम्मुख पूर्ण सादृश्यता लिए उभरते हैं। पहाड़ों का पूर्ण बिम्ब नयनों के सम्मुख उभर आता है। इसी प्रकार पहाड़ों के प्राकृतिक सौंदर्य एवं वहां के लोक जीवन सम्बन्धी विभिन्न आनुप्रासिक बिम्ब परम्परित मिलते हैं।

लोक नायिका के रूप-चित्रण में उपमा अलंकार लोक कवि को अधिक प्रिय रहा है। निम्नलिखित 'जातरा' गीत में नायिका का आंगिक अदृश्य सौंदर्य स्वाभाविक उपमा के बिम्ब-विधान द्वारा कितना साकार हो उठा है। द्रष्टव्य है :—

रैण संह गोरी जातरा चली ऐ,
राणी केहरे पैर सुहाणे,
जाणी करी मोरां दे टुण्डू ऐ।

रैण सैह गोरी जातरा चली ऐ,
राणी केहरा लक सुहाणा,
जाणी करी कुम्भिया दा ढक ऐ।

प्रस्तुत गीत में राणी के पांव, कमर, हाथ, होंठ, नाक आदि शरीरावयवों के सौंदर्य, कोमलता, पतलेपन तथा आकर्षण को मयूर के पंजों, कुंभी के धरातल आदि से उपमा देकर अदृश्य भावों को सादृश्य बनाने का सहज प्रयोग मिलता है।

रूपक अलंकार का भी एक उदाहरण देखिये :-

काहे वी हलोटड़ी, रणझुंजणा माए !
काहे वे बैल बुहाये रणझुंजणा माए !
स्यूने वी हालोटड़ी, रणझुंजणा माए !
रूपे दे बैल बुहाए, रणझुंजणा माए !
कुंगुऐ तां केसरें, कीतियां क्यारियां,
मोतियां बीज बुहाये, रणझुंजणा माए ।।

रंगयोजना में चाक्षुप स्पर्श है और गंध योजना नासिकारंध्रों में गमक उठती है। इसी प्रकार नाद, गंध, स्पर्श, वर्ण तथा विवृत बिम्बों के अनेकों उद्धरण इन गीतों के प्रत्येक रूप में सहज उपलब्ध हैं।

विवेच्य गीतों में प्रतीक योजना

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के प्रतीक शब्द सम्बन्धी परिभाषाओं की सम्यक विवेचना के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रतीक अमूर्त सत्ता का मूर्तिकरण है जो परम्परा अथवा सम्बन्धी द्वारा आकार ग्रहण करता है। कांगड़ी लोकगीत लोकमानस की स्वछन्द रचनायें हैं। इनमें न तो किसी प्रकार के दर्शन का आग्रह है न किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पृक्ति ही। प्रेम इनके जीवन का मूलाधार है। अतः इनके रचयिताओं ने केवल उन्हीं प्रसिद्धियों को स्वीकृत किया है जिनमें प्रेमाभिव्यंजना की समृद्ध क्षमतायें थीं। किसी वस्तु की व्याख्या करना, उसे स्वीकृत करना, पलायन का पथ प्रस्तुत करना, सुप्त अनुभूतियों को जागृत करना व अलंकरण का साधन होना काव्य में प्रतीक के मुख्य कार्य हैं। विद्वानों ने प्रतीक के वर्गीकरण की चर्चा करते अनेकानेक तर्क प्रस्तुत कर प्रतीक रूपों को नाम दिया है। परन्तु विवेच्य गीतों में प्रयुक्त प्रतीक-रूपों को निम्नलिखित वर्गों में रखकर परीक्षित किया जा सकता है:—

1. कवि प्रसिद्धिपरक प्रतीक,
2. पौराणिक प्रतीक,
3. अलंकार-परक प्रतीक,
4. काम-परक प्रतीक ।

कवि प्रसिद्धिपरक प्रतीक:-

प्रयोग प्रक्रिया में अनेक परिपाटियां प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। प्रेम के सांसारिक और आध्यात्मिक महत्व प्रतिपादन के लिए परम्परा से इन प्रसिद्धियों

Scanned with CamScanner

का प्रयोग होता आया है । विवेच्य गीतों में प्रयुक्त कवि प्रसिद्धियों का विश्लेषण दो वर्गों में किया जा सकता है :—

क—वनस्पति संसार के प्रतीक।

ख—जीवधारी संसार के प्रतीक ।

1. विवेच्य गीतों में मुख्य कथ्य प्रणय व्यंजना है । अतः इनमें रूप-सौंदर्य की व्यंजना हेतु विविध वनस्पति प्रतीकों का सहज प्रयोग हुआ है । मुख्यतया चम्बे दी कली, कचियां कलियां, मरूए दा फुल्ल, कीकर, दरेको, सैम्बल-पुष्प, नागर वेल, अनार, खटनालू, मेंहन्दी, दाख, नीम्बू आदि प्रसिद्धियों का प्रयोग हुआ है। कुछ प्रयोग दृष्टव्य हैं:—

(1) **चम्बे दीये डालड़िये मुईये बेग्रास न हो,**
ओहने अज आई पुजणा ।
बणी-बणी-खिड़ो पौ ॥

तथा

बापुए लाया बाग, खिड़ी पई चम्बा कली ।

(2) **कच्ची कली तोड़ी गिया, बिच बणे सुटी गिया।**
पापां ते नी डरेया जी बेईमान लोकों ॥

अतः अवयस्कता तथा पुत्री के लिए चम्बाकली तथा कच्ची कलियों के सहज प्रयोग हुए हैं । इसी प्रकार उनके प्रतीक में नारियल का प्रयोग देखियें:—

सुपणे च सस सुहागण नरेलां लेई आई ।

2. भारतीय जनजीवन पशु-पक्षियों के निकटतम सम्पर्क में रहा है । उनके सम्बन्धों की रागात्मकता से वह विशेष प्रभावित हुआ है । विवेच्य गीतों में जीवधारी (पशुपक्षियों) सम्बन्धी प्रसिद्धियों का सहज तथा स्वाभाविक प्रयोग हुआ है । हंस, कोयल, कुंज, कूहकु, मछली, हिरण-हिरणी, घोगड़, आदि के अनेकविध प्रयोग इन गीतों में सहज रूप से हुए हैं। मच्छली का प्रयोग देखिये :—

थोड़े से थोड़े पाणियें मच्छली जे तड़पें,
इयां करी तड़पें नौकरें दी नार ॥

इसी प्रकार कूहकू का प्रयोग देखिये:—

बड़डा कूहकू मने मेरें बसेया,
छोटे ने परीत कियां लाणी !
भाबी कूहकू कियां बोलदा ।

तथा कूंज का भी रूप-प्रयोग द्रष्टव्य है:—

1. **उड़ उड़ कूंजड़िये चिकनी बूंदा मेघ बरसे।**
उड़ उड़ कूंजड़िये ! जिन्दरेंहगी फिरी मिली लैंहगे ।

पौराणिक प्रतीक

विवेच्य गीतों में परम्परित अधिकांश पौराणिक प्रतीक कृष्णचरित से सम्बन्ध रखते हैं। रामचरित तथा शिवचरित के भी प्रतीक प्रयोग हुए हैं, परन्तु बहुत कम । राधाकृष्ण के अतिरिक्त रुक्मणी, गोपी, कुब्जा, चन्द्रावली आदि का भी प्रणय प्रसंगों में प्रतीकवत वर्णन हुआ है । राम-सीता, शिव-पार्वती, कंस-रावण, राजा-बलि आदि के कथा-प्रसंगों के उद्धरण भी धार्मिक गीतों में यत्रतत्र प्रयुक्त मिलते हैं । कुछ प्रयोग देखिये:—

संस्कार गीतों में राधा-कृष्ण, नन्द-यशोदा, बसुदेव-देवकी आदि का नाम बार-बार आया है । सारा लोक नवजात शिशु को राम तथा कृष्ण मानता है । यथा:—

(क) **काले महीने दियां न्हेरियां रातीं,**
जन्मेया कृष्ण मुरारी जी।

(ख) **घर बसुऐ वें जन्मेया पुत्र**
जशोदा पलंग चढ़ी।
नन्द करदा गौआं दे दान
स्यूने दे सिंग मढ़ी ॥

इसी प्रकार वर तथा बहू के लिये भी इनका प्रयोग हुआ है :—

(ग) **बाहरेआ मेरी श्याम सुन्दरी,**
कान्ह लगना जो आया ऐ।

(घ) रसिक नायक के रूप में:—

कृष्णे कूंज गली मंझ घेर लईयां,
छोड़ छोड़ कान्हा मेरी बाहीं न मरोड़,
में घर सस स्याणी ॥

(ङ) ऐसे ही कुछ राम-सीता सम्बन्धी प्रयोग भी प्रस्तुत हैं :—

बडे भाग जिसा माता कुसल्या वे,
जिन्ना बेटा रामचन्द्र जाया राम ।
किसिए स्हेतड़ी कुण गोरी आई,
रामचन्द्रा स्हेतड़ी सीता गोरी आई ।

Scanned with CamScanner

गंगा नदी का प्रयोग भी पवित्रता के लिये इन गीतों में हुआ है:—

तनै दी मैल राजा गंगा न्होई जांदी,
जी जमना न्होई जांदी ।
कपला दी हत्या बड़ी भारी,
समझी चलो राजा भरथरी !

अलंककारिक प्रतीक

लोककवियों की रचनायें अलंकारिक-काव्य रुचिजन्य नहीं होतीं । अतः इनमें अलंकारमूलक प्रतीकों के आडम्बर प्रयोगों की संभावना कम रहती है । विवेच्य गीतों में श्लेषगत-प्रतीक यमकगत-प्रतीक, रूपकगत-प्रतीक, अन्योक्तिपरक-प्रतीक तथा मानवीकरणगत-प्रतीक रूपों के सहज प्रयोग परम्परित मिलते हैं । श्लेष का प्रयोग द्रष्टव्य है:—

1. राविया दें कण्डे कण्डे हण्डदेया गभरा ।
2. जांदे मुसाफर जाई रैह रौआ पार ।।

यहां रावीं शब्द केवल नदी विशेष के लिए ही नहीं प्रत्युत दूरी, तथा परदेश के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

इसी प्रकार 'गोरी' शब्द भी नायिका, पत्नी, तथा प्रेमिका के लिये प्रतीक बन कर आया है । यथा :—

1. गोरी तेरा कन्त चला परदेस ।
2. धन-धन तेरे मां-बाप गोरिये !
3. ना कर गोरिये मैलियां आखियां,
असां परदेसियां टुरी जाणा ।।

इसी प्रकार "पिंजरा" शब्द का प्रयोग देखिये:—

(क) झूरे पिंजरा लमारिया कनें ।

(ख) झूरी तां झूरी माये पिंजरा होया,
हड्डआं दी होई लम्मी डोर ।।

यमकगत प्रतीक का एक उदाहरण प्रस्तुत है:—

प्हाड़े देसे खटिया नी जांदा,
प्हाड़े नी जायो कोई ।

इसी प्रकार रूपकगत, अन्योतिकगत, मानवीकरणगत प्रतीक-प्रयोग भी इन गीतों में सहज सुलभ हैं ।

कामपरक प्रतीक

कामपरक प्रतीकों का प्रयोग प्राय: इन गीतों में कम ही हुआ है । यदि ऐसी योजना के सहज प्रयास हुए हैं तो भी वे बड़े परिष्कृत रहे हैं । अन्य पर्वतीय क्षेत्रों की भांति यहां इन का खुला प्रयोग नहीं मिलता !

अप्रस्तुत विधान

वर्ण्य विषय के अतिरिक्त कवि अन्यान्य दृश्यों, रूपों और तथ्यों को भी हमारे सामने लाता है जिनका उद्देश्य मुख्यत: काव्य के भावात्मक प्रभाव में शुद्धि करना होता है । ये बाहरी चित्र ही अप्रस्तुत कहलाते हैं । उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि शब्दालंकारों द्वारा किसी न किसी प्रकार कोई अप्रस्तुत ही सामने लाया जाता है ।

विवेच्यगीतों में अप्रस्तुत का स्वरूप प्रयत्न-प्रसूत न होकर अनुभूतिजन्य है । अत: इन में यह शोभाकारक धर्म की अपेक्षा अनुभूति का अंग मानना अधिक समीचीन होगा । इन में उक्ति तथा अलंकार समान प्रतीत होते हैं । भावना के उद्दीप्त होने पर वाणी स्वयं उद्दीप्त हो जाती है । उस में स्वाभाविक रूप से उक्ति वैचित्र्य आ जाता है । लोकगीत भावप्रधान होते हैं । इन में संगीत की नैसर्गिकता अपने ध्वनि-सौंदर्य के सक्रिय योग से और भी रंग तथा रस भरती है । शब्दों की ध्वनि संयोजना इन का मुख्यगुण है । शब्द का ध्वनि-सौंदर्य ही अनुप्रास है और इसीकी अधिकता इन गीतों में अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है ।

इनमें शब्द तथा अर्थालंकारों के पर्याप्त प्रयोग हुए हैं । शब्दालंकारों में अनुप्रास, पुनरुक्ति, प्रकाश, यमक, श्लेष, बीप्सा वक्रोक्ति आदि के सहज प्रयोग उद्धरणीय हैं । अनुप्रास के कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं:—

(क) उड़ उड़ सीकरुआ सिकर-दुपहरां ।
(ख) पैरां दी जुती लसमस करदी
लसमस करै मेरा लाल डोरिया ।

(ग) सौए सौए कर रही औंदिया सौए !
(घ) कुंगुएं तां केसरें कीतियां क्यारियां ।
(ङ) चिव-चिव-चिव चिव चिड़ुआ जे बोलै ।

उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त उ, ल, स, क, च, ब आदि अक्षरों की आवृत्ति ने गीत में निहित भावों के ध्वनि-सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है । इसी प्रकार

पुनरुक्ति प्रकाश के प्रयोग देखिये :—

(क) डुगी डुगी नदियां संली संली धारां.
छैल छैल गभरु बांकी बांकी नारां,
बोलणा बोल पियारा।

(ख) कजला सोभी सोभी पौंदा मन डोली डोली पौंदा।

यहां केवल सौंदर्य-सृजन के लिए ही शब्दों की आवृत्ति हुई है। श्लेष के रूप भी द्रष्टव्य हैं:—

भैणे हुण तुद पुछदी कोयले !
प्यूली किन्नी गुणे ?

यहां 'कोयल' तथा 'प्यूली' शब्दों के दो-दो अर्थ हैं। कोयल एक पक्षी विशेष तथा दूसरा सखी का प्रतीक है। इसी प्रकार 'प्यूली' पीला रंग-विशेष तथा दूसरा कृशता का प्रतीक है। इसी प्रकार एक और प्रयोग द्रष्टव्य है:—

सिरें मेरे कसर कसूर, पिट्ठो लसकारा होया।

यहां भी 'लसकारा' शब्द का प्रयोग श्लेषगत है। लसकारा साधारण अर्थ में चमक तथा दूसरा असह्य-पीड़ा। इसी प्रकार के अनेकों प्रयोग यहां के लोक द्वारा दैनिक वार्तालाप में प्रयुक्त मुहावरा-लोकोक्तियों में सहजता से देखे जा सकते हैं। कांगड़ी लोकमानस प्रायः हास्य-व्यंग्य-विनोदी है। यहां किसी प्रकार का व्यावहारिक छल-छद्म नहीं।

अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकार ही विवेच्य गीतों में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अतिशयोक्ति, विन्योक्ति, स्मरण, सन्देह, उल्लेख आदि अलंकारों के सहज प्रयोग इन गीतों में परम्परित मिलते हैं। उपमा के कुछ प्रयोग देखिये:—

बेटी म्हारी ऐ चन्द-तारा,
चांद-तारा वर मांगती।

(हमारी पुत्री तो चान्द तारों के समान सुन्दर है और वैसा ही वर चाहती है)। यहां बेटी के (प्रस्तुत) रंग, रूप, गुण आदि की चान्द-तारों (अप्रस्तुत) से साम्यता दी गई है। इसी प्रकार:—

भैणे तुसां तां चम्बे दीयां डालियां,
वीरा तुसां ता फुल गुलाब दे जी।

यहां बहिन को चम्पा डाली से तथा भाई को गुलाब-फूल से साम्यता दे कर उन के रंग, रूप तथा गुण को साकार बनाने का प्रयास हुआ है।

सास, बहु और ननद तथा भावज लोकगीतों का विशेष विषय बनी हैं। लोक-कवियों ने इन के स्वभाव, गुण तथा व्यवहार को साकार बनाने के लिये बड़ी विचित्र परिकल्पनायें लोक को दी हैं। पक्खड़ नामक सामाजिक गीतों में ऐसे अनेकों स्थल मिलते हैं जहां सरल रूप द्वारा सास तथा ननद के चरित्र को अभिव्यंजित किया गया है। भाई जब बहिन से उस की सास तथा ननद के विषय में पूछता है तो वह उन का कैसा रूप बांधती है,—कितना सूझ भरा! इस के लिए निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:—

सस तां मेरी चम्बे दी डाली,
नणान स्यूने दी तार।

यहां 'चम्बे दी डाली' तथा 'स्यूने दी तार' शब्दों द्वारा सास और ननद के स्वभाव एवं सौंदर्य को ध्वनित किया गया है। एक अन्य रूपक द्वारा उनकी दुष्ट-प्रकृति को किस प्रकार रूपायित किया गया है, जरा देखिये:—

सस तां वीरा अग्नि दा पूला,
नणद लसकदी विज।

इन पंक्तियों में प्रयुक्त 'अग्नि दा पूला' तथा 'लसकदी विज' बड़े उपयुक्त तथा समर्थ प्रयोग हैं। ये दोनों शब्द अभिधेय अर्थ को पूर्णतया अभिव्यंजित करते भावों को साकार तथा प्रभावपूर्ण बनाते हैं।

प्रस्तुत में अप्रस्तुत की संभावना करने की शक्ति लोक की निजी सम्पत्ति प्रतीत होती है। वह इस का प्रयोग बड़े सरल तथा अनूठे ढंग से करता आया है। सास के पूछने पर कि तुम्हें कुएं पर कौन और कैसे रंग-रूप का व्यक्ति मिला था, बहू कितना उत्प्रेक्षापूर्ण उत्तर देती है! निम्नलिखित पंक्तियां देखिये:—

नणबा तां सांहीं ओहबियां हालीं भी ससु !
तेरे तां सांही उसबी मुहार बे।

इसी प्रकार:—

जियां कुकड़ले बी छेड़ा हो,
तियां मियें बी तरेड़ा हो।

उत्प्रेक्षा लोकनारी की वाकपटुता का विशेष गुण है। प्रायः निम्न तथा मध्यवर्गीय श्रमिक नारियां कार्य करते समय, लड़ते-झगड़ते तथा शादी-गमी में सुख-दुःख बढ़ाते इतनी क्षिप्रता से उत्प्रेक्षा का सहज प्रयोग करती हैं, इसकी समता नहीं।

अतिशयोक्ति तो लोक-कवियों का प्रिय अलंकार है। बारों, ऐंचलियों तथा कारकों में, वीरों, पौराणिक देवी-देवताओं तथा स्थानीय लोक देवी-देवताओं की आकृति, दर्प, शौर्य, अदभुतता-चित्रण में अतिशयोक्ति का निर्बाध प्रयोग हुआ है। संस्कार

Scanned with CamScanner

गीतों में विशेष कर जन्म तथा विवाह गीतों में भी अतिशयोक्ति के अनेकों उदाहरण सहज सुलभ हैं। ऐसे प्रयोगों में लोक कवि अपने परिवेश के बाहर जाने को उत्सुक हुआ है। अतः ऐसे स्थलों पर कल्पना के असाधारण परन्तु निराकार प्रयोग दिखाई देते हैं। ऐसी रचनाओं में उसके अभावग्रस्त जीवन को उन्मुक्त वाणी मिलती है, ऐसा अवश्य स्वीकारना पड़ता है। कुछेक उदाहरण देखिये :—

ढाल-तलुआर तेरी कोलणियां झूरवी,
लड़ेया वांही दे जोर राजा,
किहला पठाणिया जोर लड़ेया।

ढाल-तलवार को छोड़ कर वांहों के बल लड़ना और हथियारों से लैस शत्रुओं को पछाड़ देना अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसी प्रकार :—

टोपें टोपें दारू बंडे,
लप्पा कने बंडे तीर लोको।

बारूद का टोपे-टोपे बांटना और तीरों को लपां-लपां (कदमों द्वारा) बांटना भी अतिरंजनापूर्ण है।

इसी प्रकार विन्योक्ति का एक रूप प्रस्तुत है:—

भाईयां बाह्‌ज नी हुंदियां लोरियां,
माऊं बाह्‌ज नी हुन्दे बड्डे लाड।

कक्खां बाह्‌ज नी सुहांदे झोंपड़े,
वृच्छां बाहज्ञ नीं सुहांदे पिड़ ग्रां।

तथा

राम बिना मेरी सूनी जुधिया,
जतियें बिना ठौकराई हरे।

उपर्युक्त पदों में क्रमशः भाइयों के बिना, माता के बिना, घास-फूस के बिना, वृक्षों के बिना, राम के बिना, सीता के बिना, पति के बिना, पत्नी के बिना आदि शब्द विन्योक्ति अलंकार के द्योतक हैं। इसी प्रकार के प्रयोग इन गीतों में अन्यत्र भी सहज-सुलभ हैं। स्मरण का एक उद्धरण देखिये :—

दरेकां फुलियां परदेसिया वीरा!
दरेकां दी ठण्डड़ी छां, वीरा मेरेया मिली जायां॥

यहां "दरेकां फूलने" पर विरह की तीव्रता में भाई के संयोग के सुधि आना बड़ी स्वाभाविकता से अभिव्यंजित हुआ है। समग्रतः विवेच्य गीतों के विभिन्न

रूपों में दृष्टान्त, उदाहरण, स्वाभावोक्ति अन्योक्ति, तथा उल्लेख आदि के सहज प्रयोग भी परम्परित मिलते हैं।

समग्रता का मूल्यांकन

प्रस्तुत विश्लेषण के अन्तर्गत कांगड़ी लोकगीतों में अभिव्यंजना-शिल्प में कल्पना के स्वरूप को बिम्ब, प्रतीक तथा अप्रस्तुत के आधार पर खण्ड-खण्ड रूप में परीक्षा करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकलते हैं उन्हें निम्नलिखित रूप से स्थापित किया जा सकता है—

1. कांगड़ी लोक—गीतों में बिम्ब-योजना का प्रचुर प्रयोग मिलता है। लोक कवियों की बिम्ब-योजना के विषय में इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह पूर्णतया अनुभूति-प्रधान है। चाक्षुषता इस में मुख्य है। लोककवि ऐसी योजना के प्रति सचेष्ट नहीं रहता। भाव-प्रवणता में ही वह अपनी अनुभूति को ऐसा रंग-रूप एवं रेखा-बद्ध करता है कि लक्षित विषय छाया—प्रकाश के चलचित्र की भांति हमारे सम्मुख उभरने लगता है। प्रस्तुत गीतों में बिम्ब का स्वरूप परम्परित है। यह रूढ़ तथा नये दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है।

संस्कार गीतों में पौराणिक बिम्बों की अधिकता है। ये बिम्ब रेखाबद्ध तथा रंगीन हैं। प्रणय, श्रम, पारिवारिक तथा ऋतु गीतों में भाव-बिम्बों का अनुपात अधिक है। इस प्रकार के भाव ऐन्द्रियक बिम्बों द्वारा पर्याप्त मात्रा में उभरे हैं। इनके जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को इन के द्वारा उदीप्ति मिली है। उत्सव, त्योहार, मेला तथा जातरा सम्बन्धी बिम्बों में रंग-प्रयोग अधिक रहा है। समग्रतः इन गीतों में प्रयुक्त बिम्बों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ये धरती से आकाश और लोक के गृह-आंगन तक फले हैं।

2. ये गीत लोक कवियों की स्वच्छन्द रचनायें हैं। इन में किसी प्रकार के दर्शन का आग्रह तथा सम्प्रदाय विशेष की सम्पृक्ति नहीं है। प्रेम ही इनका मुख्य कथ्य है। अतः इन में उन्हीं कवि—प्रसिद्धियों का प्रयोग मिलता है, जिन में प्रेमाभिव्यंजना की समृद्ध क्षमतायें हैं। लोक-कवि का चिन्तन एवं विचार-धरातल अभिजात्य कवियों के समान नहीं होता। उसके जीवन, विचार चिन्तन तथा अभिव्यक्ति में एकरूपता है। बौद्धिक चमत्कार तथा कल्पना की उड़ानें उसे कम ही स्पर्श कर पाती हैं। अतः इनमें प्रयुक्त प्रतीकों में दार्शनिक तथा कलात्मक रूपों का अभाव है।

Scanned with CamScanner

3. इन गीतों में रीतिग्रन्थों में निरूपित लक्षणों के अनुसार शब्द तथा साम्यमूलक अलंकारों के उपलब्ध रूप अपने स्वरूप में पूर्णतया स्वाभाविक हैं। अलंकार इन गीतों में भावोद्दीपनता में आये हैं। ऐसी स्थिति में अपढ़, गंवार तथा अभिजात्य-प्रभावहीन व्यक्ति की वाणी भी स्वतः अलंकृत हो उठी है।

इन गीतों में प्रयुक्त शब्दालंकारों में अनुप्रास का अनुपात अधिक है। श्लेष तथा यमक के प्रयोग में श्लेष का प्रयोग अधिक है। साम्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के प्रयोग अनुपाततः अधिक हुए हैं। इन में प्रयुक्त उपमायें मौलिक तथा रूप-साम्य के आधार पर प्रयुक्त हुई हैं। उपमान मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के हैं। रूपक प्रायः छोटे-छोटे तथा लोक-जीवन से ग्रहण किये गए हैं। अधिकांशतः ये आत्मपरक हैं। वीरगाथाओं में अतिशयोक्ति के व्यापक प्रयोग हुए हैं। धार्मिक गीतों में दृष्टान्त एवं उल्लेख के प्रयोग व्यापक हैं। रस—परिपाक की स्थिति में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग सर्वत्र हुआ है। यह सायास न होकर स्वरूप में पूर्णतया नैसर्गिक तथा वैज्ञानिक है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि कांगड़ी लोकगीतों में कल्पना का क्षेत्र व्यापकता के साथ-साथ अपना विशेष महत्व रखता है। इन गीतों में प्रयुक्त बिम्ब प्रतीक तथा अप्रस्तुत के स्वाभाविक प्रयोग हुये हैं जिनमें कल्पना लोकजीवन की आयामिक परिस्थियों से बाहर कम ही गई है। मूलतः इस का प्रयोग भावों की स्वच्छन्दता के प्रवाह में स्वयमेव हुआ है और भावों की अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषणीयता के ठीक अनुकूल बैठा है।

सहायक पुस्तकें :—

1. हिन्दी शब्द कोष।
2. इन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटेनिका।
3. डा0 सुधा सक्सेना-जायसी की बिम्ब योजना।
4. डा0 महेन्द्र कुमार-रीतिकालीन कवियों का काव्य-शिल्प।
5. डा0 नगेन्द्र—काव्य-बिम्ब।
6. डा0 नगेन्द्र-काव्य की भूमिका।
7. डा0 गणपतिचन्द्र गुप्त—साहित्य-विज्ञान।
8. डा0 चन्द्रशेखर:—रीतिकालीन स्वछन्द काव्य धारा में अभिव्यंजना शिल्प : विश्लेषण एवं मूल्यांकन (थीसिस)
9. गौतम शर्मा 'व्यथित' —कांगड़ा के लोकगीत : साहित्यिक विश्लेषण एवं मूल्यांकन (शोध-प्रबन्ध)
10. गौतम शर्मा व्यथित : कांगड़ी लोकगीत भाग 1, 2, 3, 4, 6।
11. डा0 एम0एस0 रंधावा—कांगड़ा-कला, देश और गीत।

पहाड़ी मुहावरे और कहावतें

—प्रो0 हरिराम जसटा

शब्दों के बिना कोई विचार संभव नहीं। शब्दों द्वारा ही एक मानव दूसरे पर शासन करता है। अच्छे शब्दों का विक्रय अधिक है, परन्तु क्रय कम। किसी व्यक्ति, जाति और समाज के विचारों का वस्त्र—आभूषण शब्द हैं। इसलिए जैसे कोई भी व्यक्ति अपने फटे पुराने चीथड़ों में समाज में प्रदर्शित नहीं होना चाहता, वैसे ही भाषा के सुन्दरतम शब्दों या वाक्यांशों से भाषा की शोभा और प्रभाव-उत्पादकता बढ़ती है। शब्द ही आत्मा के राजदूत हैं। ऐसे ही प्रभावशाली एवं शक्तिशाली शब्दों, शब्द-समूहों एवं वाक्यांशों या वाक्यों को मैं मुहावरों एवं कहावतों का नाम दे रहा हूं।

सर्वप्रथम पहाड़ी मुहावरों का ज़िक्र करुंगा। ऐसा वाक्यांश जो सामान्य अर्थ का बोध न करा कर किसी विलक्षण अर्थ की प्रतीति कराये, मुहावरा कहलाता है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा में शक्ति और प्रवाह आ जाता है। पहाड़ी मुहावरों की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं:—

प्रथम, किसी मुहावरा के विलक्षण अर्थ का बोध वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही होता है। वाक्य के बिना मुहावरा अपनी विलक्षणता को सिद्ध नहीं कर पाता। जैसे, कोई कहे 'इन्द्रौ दौ झौड़ी' । इस से कोई अर्थ वैभव नहीं टपकता। परन्तु जब इसी मुहावरे को वाक्य में प्रयुक्त करेंगे तो वाक्य के अर्थ में लाक्षणिकता और लालित्य उत्पन्न होगा। जैसे—तीसौ रा का लेखा हो, सै भौ इन्द्रौ दौ झौड़ी। इसी प्रकार कुछ और मुहावरे और उनका प्रयोग यहां दिया जा रहा है :—

बाढ़ी रा बौलद—(बेकार)- सै भौ बाढ़ी रा बौलद, काम नहीं करदा।
कैड़े दी आखि—(सचेत) - राम लालौ रै भौ कैड़े दी भी आखि,
तेस धोखा नहीं देहीन्दा।

द्वितीय, पर्यायवाची शब्द रख देने से मुहावरे की विचित्रता जाती रहती है। जैसे 'ढाको दे काछू' के स्थान पर 'पहाड़ो दि रशी' कह देने से मुहावरे का अर्थ वैभव नष्ट हो जाता है।

तृतीय, यह सब जानते हैं कि, मुहावरे में शब्दार्थ नहीं, अपितु उस में दिया हुआ अर्थ ही महत्वपूर्ण होता है। जैसे 'करेड़ चोड़ि'। दोनों शब्दों का अलग-अलग अर्थ महत्वपूर्ण नहीं, परन्तु प्रस्तुत अर्थ 'दिल भरना' अधिक महत्वपूर्ण है।

कई बार मुहावरों और कहावतों में अन्तर नहीं समझा जाता, किन्तु वास्तव में बाह्य कलेवर की दृष्टि से 'मुहावरा', जैसे ऊपर कहा गया है, वाक्यांश होता है, जबकि कहावत एक पूरा स्वतन्त्र वाक्य होता है। वाक्य से हट जाने पर जहां मुहावरे का अर्थ संभव समाप्त हो जाता है, वहां कहावत के साथ ऐसी कोई बात नहीं होती। कहावतें तो सीख देने वाले पौराणिक प्रसंगों, दंत-कथाओं या किंवदन्तियों और जीवन के शाश्वत सत्यों के रस से अपने आप को पुष्ट कर अपना स्वरूप निर्माण करती हैं। इनका प्रयोग प्राय: कथन को सफल और युक्तियुक्त बनाने के लिए किया जाता है। जैसे–ज़ेज़ा मेरी माओ नीओं ला, सै मूंभि न्हींदा ओ या खालटै पाछै ज्योठा–अर्थात् अच्छे के साथ बुरों को भी लाभ हो जाता है।

पहाड़ी भाषा में कहावतों एवं मुहावरों का असीम भंडार भरा पड़ा है। आवश्यकता है तो कुछ लोकवार्ता में रुचि रखने वाले उत्साही भाषा-विदों के सतत प्रयत्नों की, ताकि ये धूल धूसरित भाषा-रत्न संगृहीत रूप में सामने आ सकें।

कांगडा हो या मंडी, बिलासपुर हो या सिरमौर, हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक पहाड़ी भाषा क्षेत्र में ऐसे असंख्य लोक-प्रचलित शक्तिशाली शब्द, वाक्यांश एवं कहावतें धीरे–धीरे भूल के महासागर में विलीन होकर उन पर अन्य भाषाओं का आवरण चढ़ रहा है। इसलिए भाषा की स्मृद्धि के लिए उसके मूल रूप को सुरक्षित रखना अत्यंत आवश्यक है।

मैंने प्रस्तुत लेख में पहाड़ी के महासुवी क्षेत्र के कुछ मुहावरे एवं कहावतों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम मैंने कुछ मुहावरे प्रस्तुत किए हैं, उसके बाद कहावतें। इन मुहावरों की शोभा देखकर आप यदि पहाड़ी वाक्य में कहें, तो यों कहेंगे–'इन्हौ री शोभा देखियौ बाधै दान्दै गोठी ठींयो'। इसी प्रकार जो किसी अच्छी वस्तु की प्रशंसा नहीं करते तब मुहावरायुक्त वाक्य यों प्रयुक्त होगा–सैओ न घाणा न भूखा, सै का जानौ।

पहाड़ी मुहावरे अन्य भाषाओं की तरह अपूर्ण वाक्यांश होते हुए भी वाक्य को रोचक, सतेज, और चुस्त बनाते हैं। इनके द्वारा भावाभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली और सशक्त बन जाती है, जैसे :–

(1) घौरटै फिरौ लौ (अच्छे दिन आना)

(2) पीपली लागी (जलना)
(3) सीओ रा सैंओ (डर)
(4) आलियां आणा (तंग करना)
(5) कान्हौ गाशी नचाओ (मूंह लगाना)
(6) आपण ओ पोपणा (स्वार्थ)
(7) चढ़ी जेही नाचौ (चंचल)
(8) सूतीयैं नौ तौरौ (सुस्त)
(9) छांदै दि लातै (तिरस्कार)
(10) हीयो लाओ (दु:खी करना)
(11) भूजैं दो डैंयौ (बढ़ा चढ़ा कर बात करना)

ये मुहावरे पूरे वाक्य में कितनी शक्ति ले आते हैं :–

(1) कौरैं बै जौ कौरनो ओ, कभी तौ मेरै घौरटै फीरौ लो।
(2) मेरी हुई बोलती ही बन्द-सीओ रा लागौ भाईया सैंओ।
(3) रामौ रि हुई तरक्की, तिन्हौ लागी पीपली।
(4) देरा तेस डेविनि दे, तिनि आजा आलियौ।
(5) तीसैं रैं सै कान्हो गाशैं नचावि दौ।
(6) आजकलै फेरदै ही आपण ओ पोपणा ओ लागौ दौ।
(7) सैं सभी सामने चढ़ि जैंही नाचौ।
(8) ऊबाहूं सूतीयैं नौ कौसरैं तोरियौ।
(9) तेथैं जाओ डैंवनैं, छांदे बि लातै नहीं लाई।
(10) तीन्है मेरो हीयो लाओ।
(11) बसौ तेसरी गौंई शूणी, सैं औ भूजंदो ड़ैंयौ।

ऐसे अनगिनत मुहावरे पहाड़ी भाषा में लोग अपनी दैनिक बोलचाल में मिला कर उसे अधिक सुमधुर व प्रभावशाली बनाते हैं। अन्य कुछ और मुहावरे प्रयोग सहित दे रहा हूं:—

(1) झूलकू ज्यों लागौ (सुन्दर)
तीसौ देखियों झूलकू ज्यों लागौ।
(2) भीतरी रीटा, बाहरी चीटा (दोगला)।
तैंस दो बौचियो रौहे, सैं बाहरी चीटा, भीतरी रीटा।

(3) शावण-भद्र बहादुर ओ (अधिक रोना)
तीसैं राणि रोणि ओ शावणाभद्र बहावुए ओ।

(4) सोचियौ री सूही (देर से बात समझना)।
सोचियो री सूही जाने दें।

(5) ढाको दै काछू (असंभव बात करना)
देखं ढाको दि केहरी शौड़क गाड़ि ओ। भाईया/ढ़ाको दे काछु लाएओ।

(6) हौलू रा जेहां हांडा खरोला (झगड़ा बढ़ाना)
अंग्रेज़ पूचे, हिन्दुस्तानो रा हौलू रा जेहा हांडा खरोला।

(7) भूसो रा भाव (सस्ता) म्हारे सेब बिकि लागे ओ भूसो रै भावै।

(8) आखियै झूलि (आंखों में बसना)
ठयोगो गाई बोलो कनूक, सारै बलसनों फूलि
जातरो रौहि महासू री भौलै आखि दि न झूलि रे।

(9) जीवू जौलना (ईर्ष्या करना)
हौला दिन्दी ऐ हौला बिनुए जादिरि रा न फेरा।
तेरें ओ बोलो जौल्टं देखिओ जिवू जौलो मेरा।

(10) कूजै रो फूलड़ू (सुन्दर)।
देखतं रि ति चन्दूकली फुलड़ू जानि कूजै रो।

मुहावरे पहाड़ी लोक-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जिन की ओर अब ध्यान देने की आवश्यकता में ढील नहीं आनी चाहिए।

(11) जीओ लागदे (प्यारें)
माणू भी चैंही जीओ लागदे घौरो खिड़की आलै लो।

(12) कंवलो रो फूलो (अति सुन्दर)
देखो नहीं ईजीयै तौंई टीकरो स्कूलो
इण्हो चमको जिण्हो कंवलो रो फूलो।

(13) शावण-भद्र बहाना (बहुत रोना)
-रोने रोने ओ तीसै शावण भद्र बहावुआ ओ।

(14) चांदो सुरजो दो नरोल (पर्दे में रहना)
रानी भिरमा कौरो थी चांदो सुरजो दोभि नरोल।

(15) लातो दा नवाना (निरादर)
सै नी तेस लातो दै भी नवानदी।

(16) भेड़ो री ऊनो (दयनीय दशा)
सीधे-साधै लोग तो भेड़ो री ऊनो हुओ।

(17) सीयो रा सैवा (भय)
तेस आगे नहीं ढेवीन्दे, सीयो रा जेहा सैव लागा

(18) हीयै रा आल (प्रिय)
लक्ष्मण था रामो रै हीयै रा आल।

(19) डिली माली देखना (असंभव काम)
मौला देखड़ी डिली माली।

(20) हीयो उदरो (जलना)
तेसरी तरक्की देखियो तेसरो हीयो उदरो!

इन मुहावरों से वाक्य में जान आ जाती है और सुनने वाला भी प्रभावित हो जाता है। सुन्दर वक्ता, प्रसिद्ध लेखक एंव कवि इनका सुन्दर उपयोग कर भाषा को ही नहीं अपने साहित्य को अमरत्व प्रदान करते हैं।

पहाड़ी कहावतें

लोकोक्तियां विश्वसाहित्य में नीति साहित्य का अंग मानी गई हैं। इनमें निःसन्देह लोक जीवन का निचोड़ मिलता है। कम से कम शब्दों में जीवन का गहन अनुभव प्रकट करना ही लोकोक्तियों की विशेषता है। पहाड़ी का अधिक साहित्य बहुत समय तक श्रुति और स्मृति के सहारे आज तक जीवित रहा। इसी प्रकार लिखित साहित्य से बहुत पहले मुहावरे एवं कहावतें पहाड़ी भाषा की शोभा बढ़ाते रहे। इन पहाड़ी कहावतों में अभिव्यक्ति की मार्मिकता मिलती है। एक कहावत है-पिर वि जोगठी ओ बिसवा छेवड़ी घस्तो पाड़ो-अर्थात् सूखी लकड़ी की मशाल और सुन्दर नारी किसी भी समय आपको धोखा दे सकते हैं। कहावतों के साथ एक और कठिनाई सामने आती है कि इनका शाब्दिक अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में करना अत्यंत कठिन है। एक और कहावत है:-

गोंई रै भूलै कोहो खि डेवि

अर्थात् एक गलत कदम उठ जाने से वह गलती कोसों तक बनी रहती है। कई बार व्यक्ति गलती करके भी मानने को तैयार नहीं होता और ढीठ बनकर अपनी बात पर अड़ा रहता है। ऐसी दशा में यह कहावत उद्धृत की जाती है:-

नलाज़ी रै डाल शलांघो खि

कहावतों का सम्बन्ध मनुष्य के सहज स्वाभाविक सामाजिक जीवन से है। लोक-साहित्य में लोकोक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें सामाजिक, दैनिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, पारिवारिक जीवन सूत्र मिल जाते हैं। इनकी पृष्ठभूमि कल्पना नहीं, जीवन में घटित हुआ यथार्थ है।

इन नीति वचनों को महासुवी में पखनाणे, नैणा नयाणा, बोली सै बोली भी

नाम दिया गया है। इन पखनाणों के निर्माण में परम्परा का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। संसार की प्रायः सब जातियों की लोकोक्तियां समान अर्थों वाली होती हैं। फिर भी कुछ कहावतें एसी होती हैं जो किसी विशेष अंचल की परम्पराओं, वहीं की मिट्टी व जल की उपज होती हैं। दूसरी जगह वह मुखर नहीं हो सकती, जैसे:—महासुखी की एक कहावत है-घाटो आजो ठठोईरो देओ सूथणों दि पाणीं-ठो (तीर कमान का खेल) खेलने वाले मैदान में आ गए और सूथण (मोटा ऊनी पाजामा) अब ठीक करने लगा है-ठोठे का खेल हिमाचल में प्रायः महासुवी क्षेत्र में ही अब तक प्रचलित है। अन्य प्रदेशों में मेलों के अवसरों पर एसा कोई खेल नहीं खेला जाता।

ऐसी असंख्य कहावतों में से कुछ यहां उद्धृत कर रहा हूं:

(1) औशत ओ मौंत कडुवी लागौ—दवाई और अक्ल की बात कड़वी लगती है।

(2) मांगिओ आणी भीख, तई खांदा पौड़ा रीख—मांग के भीख लाए उसे खाने रीछ पड़ गया।

(3) आगि और पाणी दो ताऊलै नी हुईन्दै—आग और पानी से अधिक जल्दी से काम नहीं लिया जा सकता।

(4) एक घौर डाग ओ जौंमि छाड़ौ
एक घर तो डायन और यमदूत भी छोड़ देते हैं।

(5) एकि बेरे बीको काठो रि भि—
एक बार तो नकली माल बिक जाता है पर हमेशा नहीं।

(6) कभी बाकरै बैली, कभी शुकिए शैली—जीवन में कभी मौज है तो कभी मुसीबत।

(7) जैरके कि आखियै दीशदो, तै आपणी भाणियो कौरदै—
यदि दूसरों की आंखों से नजर आता तो अपनी निकाल देते।

(8) जेजी गाव बाशो लि न, सेजी गाव घास ही नहीं देई
जो गाय बोलती ही नहीं, क्या उसको घास ही नहीं दिया जाता।

(9) रूखो आजै ढ़ालणें, बागरी मिला शपाहता
वृक्ष ने तो गिरना ही था, हवा को इलजाम मिल गया।

(10) तूरि रि दै ओ भेड़ो रि बै कभी नहीं मुकदि
लोकवाद की दैंदैं और भेड़ का बोलना बै बै कभी खत्म नहीं होता।

(11) तेहरो ही आंगणो, तेहरो ही घौर;
जेहरो कौरनो तेहरो ही कौर
तेरा आंगण, तेरा ही घर, जो करना वही कर।

(12) जुओ रि तौंई झुड़का नहीं दौहि
एक जूं के लिए सारे कपड़े नहीं जलाते।

(13) बाटो रि खेति डुमणे रि पछान।
रांगड़ों री दोस्ती खैर न जान,
रास्ते की खेती, नीच से जान पहचान, राजघराने के व्यक्ति से दोस्ती, इन सब में हानि है।

(14) बिनि बागरियै डाल नहीं हिल्दै
बिना हवा के टहनियां नहीं हिलतीं।

(15) आपणा मासो रि न सही, हाड़ो रि तो वेओ
अपना नजदीकी व्यक्ति मांस नहीं तो हड्डी तो देता है, पराया कुछ नहीं।

(16) नलाजि रै डाल शलांघो खि
बेशर्मों की टहनीं के नीचे छाया में रहना ठीक नहीं।

(17) सुनारो रि टक टक, लुहारो रि एखै
सुनार की टक टक, लुहार एक ही घन ज़ोर से मारता है।

(18) जौलदै घौरो दो शूण ओ शोंहटा ही सही।
जलते घर से झाड़ू ही सही।

(19) तेरि ही काकड़े-तेरो ही मुंडो दि चोड़ि लाकड़े
तेरा ही खीरा—तेरे ही सिर पर लकड़ी तोड़े।

(20) आगो रि डौणि दो मांस कोठो मिलो
बाघ की गुफा में मांस कहां मिलता है।

(21) लीन्डू बौलद हौलो रा न खौलें रा
बिना दुम के बैल से न हल ठीक चलाया जा सकता है, न खलिहान में।

(22) साक्षि भलाई, कव्वै, कुकरै खाई—सांझा खाना, किसी काम का नहीं व्यंथ जाता है।

ऐसी हजारों जीवन सूक्तियां पहाड़ी जनपद में बिखरी पड़ी हैं, जिन पर धीरे-धीरे विस्मृति की धूल जम रही है। इनमें कुछ लोकोक्तियां तो ऐसी हैं जो सभी कालों में और सभी देशों में सत्य पर पूरी उतरती हैं। इनमें निस्सन्देह मानव-जाति के अनुभवों का निचोड़ उपलब्ध होता है। जैसे:——

(क) खाओ का लागो, जो गाओ लागो—मनुष्य खाने के लिए नहीं यश के लिए जीता है।

(ख) सुरजआ। तेरो इन ख, जेहरां महारी देवठी खाई—'जैसा देस वसा भेस।'
कुछ व्यक्ति विशेष को लेकर बनी है जैसे:——

(क) एहरो नी कभी न हुन्दी, जं टूलकू होचा, खांची लाम्बा

(ख) मौह खा न मौहिए, गूंजो लीपि जाबले

Scanned with CamScanner

कुछ कहावत जातपात से सम्बन्धित होती हैं :

(क) भाटै खीरौ री तौंई राज छाड़ी।

(ख) कोंलिय पूचैं ग्रोबरैं दो हौल जोचो।

इसी प्रकार राजाओं के विषय में अनेक कहावतें हैं, जैसे:—

(1) राज ओ साप निंगर हुऔ
–सांप और राजा निर्दयी होते हैं।

(2) राजै री माऔ खि डाग कुण बौलौ
राजा की कमी कोई बता नहीं सकता।

(3) राजैं हुऔ भूतौ रे वाहनौ
जैसे लोग भूत से डरते हैं, वैसे राजा से, ।

नारी के विषय में भी अनेक कहावतें हैं, जैसे:—

(1) भस्मैं दि लातैं, देवड़ी दि थापैं कुण लाऔ।

जैसे राख पर पैर मारने से राख हम पर आ जाती है, वैसे ही नारी पर हाथ उठाना।

(2) भेड़ो गिन्दैं खोलैं नही गाहीन्दै
–नारी द्वारा बड़े काम सम्पन्न होना संभव नहीं।

ऐसी ही असंख्य कहावतें पहाड़ी भाषा को सशक्त, सजीव और उत्कृष्ट बनाए हुए हैं। इस लिए आज इस अमूल्य निधि को संगृहीत करने की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक है, जबकि शिक्षा, विज्ञान एवं टेकनौलोजी द्वारा सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवंतन हो रहे हैं। किसी भी राष्ट्र, प्रदेश, जाति एवं जनपद की परम्परा और उसको लोक जीवन का इतिहास उसकी कहावतों में अत्यन्त स्वच्छता से प्रतिविम्बित होता है, लेकिन अभी तक उस इतिहास को लिखने का प्रयास नहीं किया गया।

रंगमंच के प्रसंग में

—हरिचन्द पराशर

कहा गया है कि प्रकृति के स्वरों का पादप है–संगीत और संगीत की कली है नृत्य। नृत्य, भाव और भाषा का संयोग नाटक में घटित होता है। नाटक का मंच एक आयोजित कला है जिसे रंगकला कहा गया है। रंगकला का आविर्भाव ग्राम्य-जीवन की अनुकृति में ग्राम्य-जीवन के आम आदमी के मनोरंजन के लिये हुआ था। भारत ने ग्राम्य-दोषों के परिहार के लिये नाट्यशास्त्र का निर्माण किया परन्तु रंगकला का ग्राम्य-धर्म इतना अधिक प्रबल निकला कि लोकमंच के रूप में वह सदैव अग्रघर्षी रहा। आधुनिक 'थियेटर ऑव दि एवसर्ड' में एक बार फिर अपने ढंग से ग्राम्य-धर्म की शक्ति उभर कर निखरी।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में उप-रूपकों का उल्लेख आता है। साहित्य दर्पण (चौदहवीं शती) में अठारह प्रकार के ऐसे उप-रूपकों का उल्लेख है। उनमें से अधिकांश डान्स-ड्रामा प्रकार के हैं। निम्न पात्र और निम्न प्रकार का व्यंग्य उनमें से अधिकांश में है और भाषा में भी स्थानीय उपभाषा (डायलैक्ट) का ही प्राधान्य है। यही उपरूपक परम्परा भारतीय रंगमंच की किसी प्राचीनतर परम्परा का अवशेष है। सन् 1912 में E. P. Horrwitz ने लिखा था कि संस्कृत नाटकों से पूर्व कुछ प्रसिद्ध लेखकों के लिखे प्राकृत रूपक अवश्य रहे होंगे। उस समय स्थानीय उपभाषाओं में खेले जाने वाले नाटकीय अभिनय अर्थात् उप-रूपक ही संस्कृत नाटकों का पूर्ववर्ती रूप हैं। चूंकि ये सब प्राकृत भाषा की विभिन्न स्थानीय उपभाषाओं में होते थे अत: उनके दर्शकों को नाट्यशास्त्र में अननुशिष्ट रुचि का–अर्थात् शूद्र कहा गया और उप-रूपक की उस रंगमचीय विद्या को शास्त्रीय रूप देने के लिए नाट्य-शास्त्र की रचना हुई।

उपरूपकों का वह नाटकीय अभिनय आर्तव त्यौहारों में, शत्रु पर विजय पाने के अवसर पर, उत्तराधिकारी के जन्म पर, सिंहासन-आरूढ़ होन के अवसर पर अवश्यमेव किया जाता था। ऐसे अभिनय ग्राम दवता के प्रांगण में ग्राम निवासियों की सभा (यात्रा में) में दिखाए जाते थे।

नाटक को रूपक कहा गया है क्योंकि इसमें लोकवृत को अनुकरण के द्वारा फिर नया रूप दिया जाता है । मनुष्यों और उनके कृत्यों को वाणी, संकेत, गति आदि माध्यमों द्वारा व्यक्त किया जाता है । वाणी, काव्य, नृत्य, संगीत, क्रिया-कलाप और भावना आदि कारकों के परस्पर योग-संयोग विभिन्न अनुपातों में घटित हो सकते हैं और परिणामत: विभिन्न प्रभाव उत्पन्न होते हैं । अभिनता अपने सिर, आंख, हस्त, वक्ष, कटि, पांव, अधर और ठोडी आदि द्वारा किये जाने वाले संकेतों के माध्यम से अपनी भावना व्यक्त करता है । इतना ही नहीं वह अपने कदमों के फरक और अपनी चाल के द्वारा अपने मन्तव्य को व्यक्त करता है । दर्शकों को भी इन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है । भाषा की सूक्ष्मता और रमणीय व्यंजकता अभिनय के द्वारा विस्तृत होती है ।

नाट्य-शास्त्र में परोक्ष रूप से लोक-मंच का उल्लेख है, उसमें मंच के सम्बन्ध में ग्राम्य-धर्म को दोष माना गया है । यह उल्लख वस्तुत: लोकमंच के सम्बन्ध में ही है । ग्राम्य-धर्म के निवारण के लिए ही तो नाट्यशास्त्र की रचना हुई और भरत मुनि ने दशरूपक मानकर उपरूपकों के ग्राम्य-धर्म को समाप्त करना चाहा । परन्तु उपरूपक तो जनता की सहजवृति के साथ सम्बन्धित थे अत: उन्होंने दशरूपकों से आवश्यक उधार लेकर स्वंय को और भी अधिक जीवन्त बना लिया । जब समाज में बौद्धधर्म का ह्रास आरम्भ हुआ और साहित्य में संस्कृत नाटक अप्रचलित हुआ तो उपरूपकों का प्रभाव फिर से बढ़ने लगा । प्रबोध-चन्द्रोदय में ग्राम्यधर्म के फिर उमड़ आने का संकेत है । नाच, बहुत से गीत, थोड़ा सा सम्वाद और शून्य कथावस्तु ग्राम्य-मंच पर पालथी मार कर बैठ गए । साहित्य समीक्षक कहता है कि उसमें भोंडे-भद्दे संकेत थे, काव्य-रहित गीत थे, गद्य रहित संवाद थे, नाच के नाम पर हलकी नकल थी फिर भी ग्रामीण उसे पसन्द करते थे । इतिहासकार कहता है कि यही तो विशेषता थी क्योंकि नाटक और मंच ने दर्शक-जनता की रुचियों के अन्दर उतरना होता है । लोक-मंच जनता के लिए है और जनता उसे ही पसन्द करती है जो उसकी जानकारी में है । लोक-मंच को जनता खुद बनाती है और अपने तईं बनाती है । परन्तु जनता शिक्षा लेने के लिए सदैव तैयार रहती है तभी तो उसने रामायण और महाभारत के शिक्षादायक पात्रों को भी लोकमंच पर उतार लिया था । संस्कृत नाटक राजमहलों और राज मन्दिरों के लिए लिखे गए थे । परन्तु अभिनय की एषणा ग्रामीणों में भी थी, उन्होंने अपने ग्राम्यधर्म से उसका प्रयोग किया । भारतीय संस्कृति की यह एक प्रमुख विशेषता रही कि वह राजनीतिक प्रभुसत्ता से सदैव अछूती रही । राजा और बादशाह आकर जाते रहे, स्वयं को चक्रवर्ती और शहनशाह कहलाते रहे, परन्तु जनता अपनी संस्कृति और अपने कुलाचार को थामे रही । दक्षिण के फिलास्फर अपनी

दृष्टि लिए उत्तर, दक्षिण, पूर्व-पश्चिम समूचे भारत में घूम गए । जनता ने अपने लिये अपनी रुचि और ज़रूरत के अनुसार उनकी बात से बात ले ली और उसे अपने कुलाचार में मिला लिया । शैव और वैष्णव मतों के पुनरुत्थान के साथ लोक-मंच में पुनर्जागरण की लहर आई । हरिकथा और चारण-संस्था ने भी लोक-मंच को प्रभावित किया । चारणों ने अपनी भाषा में वीर गाथाएं गाईं और नाच के द्वारा जनता के लिए बोधगम्य कर दिया । सन्तों ने अपने पाठ को नृत्य और संगीत का रूप देकर दर्शकों में भक्ति-भावना का जागरण किया । लोक-मंच ने दोनों का स्वागत किया और लेखन कला के उस दुस्साध्य युग में प्राचीन पाठ को जनता तक रमणीय ढंग से सम्प्रेषित करके साहित्य और संस्कृति की सत्सेवा की । चारण-भक्ति-हरिकथा ने लोकमंच को रात भर सजीव रखने की एक अनोखी प्रथा भारत में आरम्भ की । रात भर श्रोताओं को जागृत रखने के लिये उन्हें उनकी भाषा में संवाद सुनाने आवश्यक थे, अत: हरिकथा ने लोकमंच की मांग के अनुसार कवियों को प्रादेशिक भाषाओं में काव्य-नाटक-संवाद लिखने के लिए प्रेरित किया । फलत: लोकमंच ने संगीत-छंद की मधुरिमा को जनता तक पहुंचाया । लोकमंच ने भागवत नामक एक और पात्र की सृष्टि की जो सारे पाठ को गाता था और जिसके अनुसार अभिनेता नाचते थे । राधा कृष्ण की प्रणय लीला ने श्रृंगार को क्लासिकल ढंग में लोक-मंच पर अवतरित किया । भक्ति के साथ सम्बन्धित होकर लोकमंच को एक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । अभिनय मंदिर के प्रांगण से निकल कर जन-पथ पर आ गया, भक्ति भावना का अभिनय जन-जन में बिखर गया । ग्रामों में इस ग्राम्य-धर्म के उजागर होने से सहयोग की भावना का विकास हुआ । अभिनय के लिये चुने गए पात्रों को सद्गुणों का व्रत लेना पड़ता था । इस तरह ग्राम-समाज में सद्गुणों की प्रतिष्ठा बनी रही ।

क्लासिकल संस्कृत नाटक के अप्रचलित होने और आधुनिक भारतीय रंगमंच के पुनर्गठित होने के मध्य की पांच छ: शताब्दियों में रंगमंच को जीवित रखने का श्रेय विभिन्न प्रान्तों को है । उन्होंने नाटक के स्थान पर डान्स-ड्रामा का एक प्रकार संस्थापित किया । डान्स-ड्रामा ने एक ओर तो कला-प्रिय नरेशों को नई नाटकीय रचनाओं के लिए प्रेरित किया और दूसरी ओर नटीवर्ग को स्थापित किया । नटी को नरेश के रणवास में स्थान दिया गया परन्तु नरेश उसके शरीर का स्वामी नहीं था । इसी डान्स-ड्रामा को शैव और वैष्णव भक्तों ने लोक-भाषा का माध्यम दिया । इस तरह राजा और नटी ने तथा चारण और भक्तों ने आधुनिक भारतीय रंगमंच को रूप दिया । आसाम और बंगाल में भक्तों का योगदान प्राथमिक है, शंकर देव और माधव देव ने संस्कृत नाटकों के आधार पर एकांकी प्रकार के अंकिया नट लिखे तथा चैतन्य महाप्रभु ने डान्स-ड्रामा को और भी मधुर बनाया ।

Scanned with CamScanner

काश्मीर में चारणों का योगदान महत्वपूर्ण है । पंजाब में एक महत्वपूर्ण बात और हुई, वहां चारणों का कार्य जोगियों ने भी किया । जोगी मूलतः ब्राह्मण थे, परन्तु जैसे नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि को ब्राह्मण वर्ग से वहिष्कृत कर दिया गया था, वैसे ही इन जोगियों को भी ब्राह्मण वर्ग से बाहर कर दिया गया था । दक्षिण में डान्स–ड्रामा ने कलाक्षेप, हरिकथा और कीर्तन आदि का रूप लिया और वहां कलाकारों को वर्णगत गौरव प्राप्त हुआ ।

सन् 1831 में प्रसन्न कुमार टैगोर ने बंगाल में हिन्दू थियेटर की स्थापना की और उसमें आधुनिकता का सन्निवेश किया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटककार और अभिनेता दोनों थे । उन्होंने नाटक-मंडली बनाई और नाटकों का अभिनय किया । अभिनय कला आगे बढ़ी, हिन्दी रंगमंच का स्वरूप निखरने लगा । रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने भाई ज्योतीन्द्रनाथ के एक नाटक में 1877 में अभिनय किया । सन् 1881 में टैगोर ने अपना पहला नाटक लिखा था । टैगोर के लिए अभिनय अनुकृति नहीं बल्कि अभिव्यक्ति थी । अतः उनका दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृत काव्य-नाटकों के अधिक निकट था । उन्होंने कुछ प्रयोग नाटक-काव्य (डान्स-ड्रामा) के क्षेत्र में भी किए । टैगोर के प्रयत्नों से उस समय की पारसी नाटक मण्डलियों को एक सार्थक और सशक्त चुनौती मिली । शाश्वत शुभ लाभदायक अशुभ को परास्त करने लगा । तमिल मंच में आधुनिकता 1964 में आई और तब 'सगुण विलास सभा' के नाम से तमिल थियेटर की स्थापना हुई । सन् 1920 में कन्नड़ के टी0पी0 कैलाशम् न दक्षिण मंच में सामाजिक व्यंग्य का सफलतापूर्वक समावेश किया । सन् 1920 के पश्चात् महात्मा गांधी के प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व ने मंच को परोक्ष रूप से प्रभावित किया । नाटककारों ने इतिहास की पुनर्व्याख्या आरम्भ की । पात्रों में अपनी वैयक्तिकता आई और मंच पर मानसिक द्वन्द्व के अभिनय के ढंग निखरने लगे । साथ ही सांस्कृतिक दृष्टिकोण के संघर्ष मंचित होने लगे । सन् 1920-30 के गांधी युग में भारतीय चेतना प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यिक पुष्पों में खिली । सन् 1928 में आन्ध्र नाटय-परिषद् की स्थापना हुई और 1932 में महाराष्ट्र में नाट्य मन्वन्तर लिमिटड स्थापित हुआ । स्कूल कालजों में सक्रिय मंच आरम्भ हुए और एकांकी अभिनीत होन लगे । मंचीय कलात्मकता में विरुद्ध-भाषणों एवं लम्बे स्वगत-कथनों के विरुद्ध, रंगीन रंग विरंगे पर्दों के विरुद्ध तथा पुरुष के द्वारा स्त्रियों की भूमिका के विरुद्ध एक खिलाफत शुरू हुई । गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलनों के विषयों ने एकांकियों को विषय-सामग्री प्रदान की । कन्नड़ की श्रीरंग-संस्था ने बिना दृश्यों के और बिना पर्दों के एकांकियों का अभिनय सन् 1933 में आरम्भ किया ।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भारतीय स्वतन्त्रता के सेनानियों के आदर्शों से प्रभावित श्रीमति कमला देवी चट्टोपाध्याय के नेतृत्व में 'इण्डियन नेशनल थियेटर'

की स्थापना हुई । विभिन्न प्रान्तों के कई नगरों में इसकी शाखाएं खुलीं । उन्हीं दिनों 'इण्डियन-पीपल थियेटर' की स्थापना हुई । I.N.T. और I.P.T. दोनों ने भारतीय मंच को आधुनिकता प्रदान करने के लिए बहुत कुछ किया । श्रीमति कमला देवी चट्टोपाध्याय ने ही भारतीय नाट्य-संघ की स्थापना करके उसे युनेस्को के साथ सम्बद्ध करवाया ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् साहित्य, ललित-कलाओं और कृत्य कलाओं के विकासापेक्षी विषय साहित्य अकादमी, ललित-कला अकादमी और संगीत-नाटक अकादमी-इन तीन स्वायत्त संस्थाओं को सौंपे गए । प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकार ने कृत्य-कलाओं को सरकारी विकास योजनाओं के महत्व के प्रसार के साधन के रूप में अपनाया । अकादमियों का ध्यान तो रहा गुण-योग्यता के स्वीकरण तक और सरकारी प्रचार विभागों के सांग-ड्रामा डिवीजन के युनिटों का ध्यान रहा कृत्यकलाओं को प्रचार-प्रयोजनों के लिए उपयोगी वनाने तक । दिल्ली में नेशनल स्कूल आफ ड्रामा की स्थापना हुई । भारत के सभी भागों से छात्र यहां मंच के सभी शिल्पों में प्रशिक्षण पाने आते हैं । पंजाब, कलकत्ता, मैसूर, वडौदा जैसे विश्वविद्यालयों ने नाटक-विभाग भी स्थापित कर दिये हैं । राजस्थान में स्थानीय अकादमियां लोक-मंच के शोध और प्रोत्साहन में लगी हैं । इस तरह स्वतन्त्र भारत में प्रादेशिक मंच भी उभर कर निखरने लगे हैं और राष्ट्रीय मंच भी संगोष्ठियों और त्यौहारों के माध्यम से विदेशों के मंचों के सम्पर्क में आकर लेन देन करने लगा है । सबसे बड़ी बात यह है कि भारत की अपनी प्रादेशिक भाषाओं में मंच के माध्यम से स्वस्थ विनिमय होने लगा है । मंच इन भाषाओं के सहज साहित्यिक सम्बन्ध को स्पष्ट करके दिखाने लगा है ।

पश्चिम का आधुनिक 'थियेटर आव दि एवसर्ड' भी प्राचीनता की ओर पुनर्गमन है । जगत में जीवन का सपाट यथार्थ कई बार ऐन्द्रजालिक मोहिनी के साथ सम्मिश्रित हुआ दृष्टिगोचर होता है । यह सपाट यथार्थ मांग करता है कि साहित्य विरोधी, काम चलाऊ, लोक-मंच जीवन की असंगतियों और उच्छृंखलताओं और अमर्यादाओं को अपने ढंग की अभिव्यक्ति मिले ताकि दर्पण में अपने धब्बे देख कर मानवता उनसे सावधान होती रहे । जब स्कूलों में बालक पोथियां पढ़ रहे होते हैं तो समाज के आदमी जिन्दगी जी रहे होते हैं । लोकमंच उन आम आदमियों के लिए है, ऐसा विचार है 'थियेटर आव दि एवसर्ड' का । तर्क की तंग जैकेट के कठोर बन्धनों को ढीला कर सकने में समर्थ होने की प्रसन्नता व्यर्थ की गपशप में प्रकट होना चाहती है । इसे ही फ्रायड ने डिलायट इन नानसेन्स' कहा है । प्रौढ़ जीवन में जितना अधिक गाम्भीर्य आता जाता है, रंगमंच में उतना अधिक हल्कापन पसन्द किया जाने

Scanned with CamScanner

लगता है। तथ्य के इस पक्ष को यह थियेटर उजागर करता है। बुर्जुआ बुजुर्गों की प्रतिक्रिया यह थियेटर अपने ढंग से करता है। भौतिक विश्व और तर्क की हदों को पार करने का पराभौतिकी प्रयत्न गपशप (वर्बल नांनसैंन्स) में प्रकट होता है। एलेज़वेथ स्वैल का विचार है कि भाषा के अभाव से प्राणवान वस्तुओं के साथ प्यार भरी एकता में इजाफा होता है। वस्तु को नाम देकर हम उसे विश्व म एक अलग व्यक्तित्व देते हैं। नाम के नाश से फिर विश्व में विलय होता है। व्यावहारिक स्तर पर इसका केवल इतना अभिप्राय सार्थक होता है कि वस्तुओं के विनिश्चित. नामकरण की बजाय स्वैच्छिक नामकरण किया जाए। कामदियों के विदूषकों के वार्तालापों में स्वैच्छिकता इसी पराभौतिक दृष्टिकोण के कारण है[1]। करियाला में यह प्रवृत्ति और भी नपाट है। जब जब कला, चित्रकला और रंगकला का लेन देन गहन हुआ तब तब भाषा में विनिश्चित प्रयोगों के प्रति विरोध हुआ। सन् 1916-17 में रूमानिया-कलाकारों का दादा-आंदोलन बुर्जूआ कला के विरोध में प्राकृत-कला की स्थापना का प्रयत्न था। दादा रंगमंच म सहजता की विस्फोटक वायु को निकास मिला। परन्तु इस दादा-आन्दोलन का उद्देश्य सर्जनात्मक न होकर खण्डनात्मक था। कुछ समय बाद नाज़ी काल की बौद्धिक मरु-भूमि दादावाद की खण्डनात्मक अभिवृत्ति झुलस गई। तब अतियथार्थवाद में अचेतन मानस की स्वास्थ्यकारी निश्चायत्मक शक्ति ने दादा आन्दोलन की विनाशकारी प्रवृति को हासिल करके विचार की वास्तविक कार्यात्मकता को प्रकट करने के लिए कला के प्रयोग पर बल दिया, भले ही कला-क्षेत्र का अतियथार्थवाद रंगमंच को अधिक प्रभावित नहीं कर पाया क्योंकि रंगकर्म केवल विचार की कार्यात्मकता पर ही निर्भर नहीं, वह तो एक विमृष्ट और आयोजित कला है परन्तु फिर भी अतियथार्थवादी चित्रकला ने रंगकला को आयोजन-क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में दिशा दी।

जब शब्द और वस्तु का सम्बन्ध-भंग, भाषा और विचार की अनबन, भावों और पदार्थों का बिगाड सामायिक उलझन का कारण समझा जाने लगा तो वर्णनात्मक रंगमंच का विरोध हुआ और 'थियेटर आव कुअल्टी' का मुकद्मा बना। वैयक्तिक और सामाजिक संस्थांओं को रंगमंच से नीचे उतार दिया गया और मानवीय मानस की गहनतम संघर्षणा को व्यक्त करने के लिए मिथक को फिर अपनाया गया। इस से यह आधुनिक रंगमंच एक बार फिर ग्राम्य-धर्म की ओर मुड़ा। प्रतीकों के द्वन्द्व में मानवीय मानस की गहराइयां व्यक्त होने लगी। अब धारणा बनी कि जिसे भाषा शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ है उसे ही

1. Elizabeth Swell—The field of non-sense, Pp. 128—29

रंगमंच ने अभिनीत करके दिखाना है[1]। संवाद स्टेज की चीज़ नहीं, अत: स्टेज की चीज़ है-संकेत और गतियां। भाषा की न्यूनता और संकेतों की अधिकता ने रंगकला की सम्मोहिनी शक्ति में वृद्धि की। भाषा का स्वायत्त साम्राज्य ढह गया, उसने विचार को दास और स्थितिपुत्र मनुष्य को अपना गुलाम बना रखा था। अब तथ्य भाषा से स्वतंत्र होकर प्रतीकों और संकेतों के मंच पर आया। पृथ्वीपुत्र को विद्या मिली कि दुनिया को देखने के तीन ढंग हैं- ऊपर को देखो और एक आदर्श तस्वीर खींचो, सामने से देखो और हूबहू समझो तथा ऊपर से देखो और उस पर हंसो। भूमि के बेटे ने इसे ऊपर से देख कर इसका परिहास किया। जंगल का जाया इसे सामने से देखकर अपनी स्थिति स्वीकारता है। वह जीवन को किन्हीं घटनाओं की कड़ी कहकर उसे स्थिति की उपज मानता है। कला अस्तित्व की भावना को व्यक्त करने में है, आचरण की सामस्याओं को सुलझाने में नहीं। दृश्य, गति, प्रकाश और भाषा इन चार आयामों के माध्यमों को रंगकला अपनाती है। जैसे-जैसे वस्तु का विश्व विस्तृत हुआ वैसे-वैसे भाषा का जगत सुकड़ता गया। होते-होते भाषा को तत्व का विरोधी समझा जाने लगा। भाषा के इस अवमूल्यन के साथ यह धारणा प्रबल हुई कि लिखे और छपे के प्रति आदर को खत्म किया जाए और जीवन के साथ फिर से सीधा सम्पर्क स्थापित किया जाए। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संस्कृति को वरा जाए। भाषा ने छुपाव के द्वारा सामुदायिक संचार में जो दंगा खड़ा किया है उसे उघाड़ा जाए, बुर्जुआई वार्तालाप की आयुक्तियों और असंगतियों को आक्रान्त किया जाए ताकि जीवन्त अनुभवों के पारदर्शी माध्यमों से पराभौतिकी तत्व मानव-समाज में सम्प्रेषित होते रहें। 'थियेटर आव् दी एबसर्ड' की ऐसी धारणाएं रंगमंच को लोक-तत्व और ग्राम्य-धर्म के पर्याप्त निकट ले आती हैं।

1. They (words) arrest and paralyse thought instead of permiting it and fostering its develepments (Antonin Arland–The theatre and its double)

पहाड़ी भाषा : लिपि

—मौलू राम ठाकुर

लिपियों का इतिहास जितना रोचक है, उतना ही जटिल भी है। मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी स्वाभाविक है। जब वह किसी वस्तु को देखता है, तो उस का चित्र तुरन्त उस की आंखों में समा जाता है और अपने ध्यानपरक भाव में वह उस को अपनी टेढ़ी मेढ़ी रेखाओं में अभिव्यक्त कर लेता है। पत्थर उस के साधारण और सहज-उपलब्ध साधन बन जाते हैं जो उस के कलम और तख्ती का रूप धारण कर लेते हैं। सूर्य को देखते ही उस का गोलाकार और किरणें उस के मन में अंकित हो जाती है, और फलतः गोल वृत्त खींच कर चारों ओर रेखाएं देकर वह सूर्य का चित्र बना देता है। वृक्ष देख कर सीधी खड़ी रेखा बना कर इधर-उधर से तिरछी लकीरें देकर वृक्ष बना लेता है। मानव की इसी नकल करने की अन्तर्जात प्रवृत्ति ने ही लिपि को जन्म दिया है, और इस तरह की लिपि को चित्रात्मक या चित्र-लिपि कहा जाता है जो लिपि का सर्वप्रथम रूप है।

लिपि के इस प्रारम्भिक रूप में मानव ने तारे, चांद, घर, नदी, आदमी, वृक्ष के रूप देख कर उन के चित्र अंकित किए होंगे। जीव, जन्तु, पशु, पक्षी और वनस्पति आदि के भी विभिन्न चित्रों ने इस लिपि का रूप लिया। आज भी संसार की कई लिपियां चित्रात्मक लक्षण को अपनाए हुए हैं। चीनी लिपि इन्हीं में से एक प्रसिद्ध और विकसित लिपि है। चित्रात्मक लिपि ने भावा- त्मक या भाव-मूलक लिपि को जन्म दिया है। अमूर्त भावों (abstract ideas) की अभिव्यक्ति के लिए जब चित्रों का सहारा लिया जाता है तो वह भावमूलक लिपि बन जाती है, जैसे पैर का चित्र पांव को चित्र रूप से ही अभिव्यक्त करता है परन्तु साथ-साथ पैर के चिन्ह 'चलना' के भाव के द्योतक हैं। चीनी लिपि का एक उदाहरण लीजिए। चीनी में सूर्य के लिए गोल वृत तथा चंद्रमा के लिए अर्ध-वृत (जो अब कदरे विकसित हुए हैं) आकार है। दोनों को आमने-सामने रखने से 'प्रकाश' अर्थ निकलता है। इसी तरह चित्र के आधार पर चीनी लिपि में पुत्र के लिए अलग चित्र (या अक्षर) है, और पुत्री के लिए अलग। दोनों को साथ-साथ खड़ा कर दिया तो 'अच्छा' का भाव व्यक्त होता है, क्योंकि पुत्र और पुत्री का होना शुभ और अच्छा है। इसी तरह 'छत' के चित्र के नीचे 'स्त्री' के चित्र को रख

कर 'सुरक्षा' शब्द बनाया गया है, क्योंकि छत के नीचे स्त्री का होना 'सुरक्षित' भाव अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार इसे भावचित्रात्मक लिपि कहा जाता है। इसी श्रेणी की लिपियों में सूत्र-लिपि, प्रतीकात्मक लिपियां भी आती हैं।

लिपियों के इतिहास का यह आरम्भिक काल बहुत प्राचीन रहा है। इस के समय निर्धारण के बारे में एक मत नहीं हो सकता, कुछ विद्वानों के अनु- सार यह समय 3000 वर्ष ई० पू० रहा होगा[1]। परन्तु इन का प्रयोग अभी समाप्त नहीं हुआ है। आज भी लगभग 50 प्रतिशत गणित-विद्या संकेतात्मक है। +, —, ÷, <, ×, >, △, ( ), [ ] आदि सभी संकेत द्वारा जाने जाते हैं। 1, 2, 3 आदि अंक भी संकेत हैं, इन्हें हम अक्षरों या वर्णों के सहारे नहीं पढ़ते, केवल इन को सर्वसम्मति ही प्राप्त है। सड़कों के कितने ही नियम संकेतात्मक हैं :- बस्ता लिए लड़के का चित्र बताता है कि यहां स्कूल है, हॉर्न का चित्र 'हॉर्न बजाने' का आदेश देता है। उसे बना कर कट देने का अर्थ 'हार्न न बजाना' है। इस प्रकार न केवल संसार की आधुनिक कई लिपियों का आधार संकेत या चित्र शैली है वरन् अंग्रेजी और हिन्दी जैसी समृद्ध वर्णात्मक-अक्षरात्मक लिपियों में भी सांकेतिक अथवा चित्रात्मक लिपियों का पर्याप्त अंश विद्यमान है।

लिपियों के इस क्रमिक विकास में चित्र-भावमूलक लिपि और ध्वनिमूलक लिपि के बीच भाव-ध्वनिमूलक लिपि का प्रयोग भी रहा है, अर्थात ऐसी लिपियां जो कुछ बातों में भाव या चित्र-मूलक होती हैं और कुछ बातों में ध्वनि मूलक। परन्तु यहां ध्वनि से अभिप्राय वर्णात्मक या अक्षरात्मक ध्वनि से नहीं है, जैसे कि कुछ विद्वानों का विचार है[2]। यदि इन लिपियों में अक्षर या वर्ण की ध्वनि का मिश्रण होता तो हमें चित्र या भाव से पहले ही ध्वनि का आरम्भ समझना चाहिए। वस्तुतः ऐसी स्थिति नहीं है। वर्ण या अक्षर ध्वनिमूलक लिपियों का उद्घाटन बहुत देर बाद का है। भाव-ध्वनिमूलक लिपि में ध्वनि से अभिप्राय चित्र ध्वनि से है, अर्थात् किसी भाव या वस्तु को उस के रूप के अनुसार चित्र बना दिया गया है। अब वह चित्र जब हम देखते हैं तो उस वस्तु या भाव का नाम मुख पर आ जाता है, यह उसकी ध्वनि है। चित्रात्मक लिपि में जब आंख का चित्र सामने आएगा तो उसे हम 'आंख का चित्र' नहीं कहेंगे, बल्कि 'आंख' कहेंगे और यह उस चित्र की ध्वनि है। ऐसी ही ध्वनि और चित्र के मेल की लिपि को चित्र-ध्वनिमूलक, या भाव-ध्वनिमूलक लिपि कहा जाता है। ज्यों-ज्यों लेखन शैली बढ़ती गई

1. श्री गुणाकर मुले: भारतीय लिपियों की कहानी, पृष्ठ 19।
2. डॉ० भोलानाथ तिवारी: भाषा-विज्ञान कोष, पृष्ठ 436।

चित्र, सूत्र, भाव, प्रतीक-मूलक लिपि अपर्याप्त सिद्ध होती गई और फिर इस प्रकार की ध्वनि का मिश्रण हो गया । उदाहरण के लिए एक चीनी शब्द लीजिए । चीनी में पुराना या वृद्ध शब्द के लिए एक चित्र है जिसे 'कू' पढ़ा जाता है और स्त्री को चीनी भाषा में 'नू' कहते हैं, जिसके लिए भी अलग अक्षर अर्थात् चित्र है । अब 'नू' के चित्र और 'कू' के चित्रों को इकट्ठा करके आगे-पीछे लिखा जाए तो यह समझा जाएगा कि इन में से एक चित्र नये शब्द की ध्वनि का परिचायक है और दूसरा अर्थ का द्योतक है । अतः 'नू' और 'कू' के मिश्रण से बने शब्द की ध्वनि 'कू' है और इस का अर्थ है 'बुआ' (वृद्ध स्त्री) । इसी तरह 'चिन' (धातु) और 'थुंग' (समान) के संयोग के अक्षर को 'थुंग' कहते हैं और इसका अर्थ 'तांबा' है, अर्थात धातु के परिवार (या समान) का । यहां 'चिन' ने भाव का और 'थुंग' ने ध्वनि का संयोग दिया तथा भाव-ध्वनिमूलक लिपि का स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है । स्पष्ट है कि भाव-ध्वनिमूलक लिपि में दो मूल-तत्वों का समावेश होता है — एक भाव और दूसरा ध्वनि का भाव-अर्थ बताता है और ध्वनि शब्द के उच्चारण की प्रतीक होती है । यहां ध्वनि अक्षरात्मक या वर्णात्मक न हो कर शाब्दिक होती है । कुछ विद्वानों के अनुसार सिन्धु घाटी की लिपि इसी श्रेणी अर्थात् भाव-ध्वनिमूलक लिपि है, परन्तु चूंकि उस समय की भाषा का ज्ञान नहीं है, इसलिए उसे पढ़ने में अभी तक सफलता प्राप्त नहीं हुई है । लिपियों के क्रमिक विकास का अन्तिम रूप ध्वनि-मूलक लिपियां हैं । अंग्रेजी, हिन्दी, अरबी- फारसी आदि भाषाओं की लिपियां सभी ध्वनिमूलक हैं ।

ब्राह्मी और खरोष्ठी

पहाड़ी भाषा की लिपि तथा वर्तनी पर विचार करने से पूर्व भारत की प्राचीनतम दो ध्वन्यात्मक लिपियों पर विचार करना ज़रूरी है, क्योंकि इन्हीं दो के आधार पर भारत की लिपियां विकसित हुई हैं । ये लिपियां हैं। ब्राह्मी और खरोष्ठी । आजकल भारत में प्रयुक्त लग-भग सभी लिपियां देवनागरी, गुजराती, बंगला, उड़िया, तेलगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम आदि ब्राह्मी से विकसित हुई हैं । ब्राह्मी की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है । मनुसंहिता, नारदस्मृति, समवायांग-सूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि का निर्माण स्वयं ब्रह्मा ने किया है । चीन की बौद्ध-पुस्तक 'फावांशु-लिन' में भी ब्राह्मी लिपि के निर्माता ब्रह्म या ब्रह्मा बताए गए हैं । ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं । अशोक का समय ईसा पूर्व तीसरी सदी (272-232) माना जाता

है । चूंकि ब्राह्मी लिपि का उससे पूर्व-रूप नहीं मिलता, इसलिए बहुत से विद्वान इसे भारत की उत्पत्ति न मान कर इसका उससे पूर्व प्रचलित अन्य विदेशी लिपियों में उद्गम ढूंढते हैं । जेम्स प्रिसेप, अलफ्रेड मूलर आदि विद्वान इसे यूनानी लिपि से उद्भूत मानते हैं । ...नेल, जेनसन, बेबर आदि विद्वान फोनिशियन (सामी की एक शाखा) से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते हैं । ब्राह्मी को विदेशी लिपि मानने वाले विद्वानों में सर्वप्रधान नाम जर्मन के संस्कृत विद्वान बूलर का आता है । उनका मत है कि ब्राह्मी लिपि का उत्तरी सेमिटिक (उत्तरी सामी) लिपि से जन्म हुआ है । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डियन पेलेओग्राफी' के पृष्ठ 18 पर अपने तर्क का निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं कि विदेशों में तिजारत करते हुए भारतीय बाणियों (बनियों) ने सबसे पहले ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में अपने व्यापार के लिखित आदान-प्रदान के लिए सेमिटिक वर्णमाला भारत में लाई, और लगभग 500 वर्ष ई० पू० में यह पूर्णतः विकसित हो चुकी थी ।

पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपि-माला', में बूलर की धारणा का कड़े शब्दों में विरोध किया और अपने तर्कशील प्रमाणों द्वारा उपर्युक्त विद्वानों के मतों को निराधार और मिथ्या सिद्ध किया है और कहा है कि 'जितने प्रमाण मिले हैं, चाहे प्राचीन शिलालेखों के अक्षरों की शैली और चाहे साहित्यिक उल्लेख. . . . . .उन सब से ब्राह्मी लिपि का किसी बाहरी स्रोत या प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता ।' बूलर के मत को प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता हुल्श और फ्लीट ने भी अर्थहीन बताया है। कुनिंघम ने यह मत व्यक्त किया है कि हाल की खोजों से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में भी प्राचीनतम समय से ब्राह्मी व्यापकतः प्रयोग में लाई जाती थी और निस्संदेह यह सभी हिन्दुओं की वास्तविक राष्ट्रीय लिपि थी[1] । इसी तरह डाउसन ने भी यह मत व्यक्त किया है कि आर्यों ने ही ब्राह्मी को भारत की किसी प्रचलित चित्रात्मक लिपि से आविष्कृत किया है । वे लिखते हैं–मैं विश्वास और आग्रह के साथ कह सकता हूं कि सब तर्क और अनुमान इस बात के प्रमाण देते हैं कि वह (ब्राह्मी) एक स्वतन्त्र आविष्कार है ।[2]

वास्तव में ब्राह्मी के बारे में विभिन्न मत किसी मूलभूत आधार के अभाव के कारण हैं । ऋग्वेद संसार की सब से पुरानी पुस्तक है, इसके बारे में कोई दो मत नहीं हैं । बूलर आदि विद्वान भी इसका खण्डन नहीं कर सके हैं । वेदों का रचनाकाल 1000 से 1500 वर्ष ई० पू० माना जाता

1. Cunningham: Coins of Ancient India, page 38.
2. Journal of the Royal Asiatic Society, 1881, page, 102.

है । जो विद्वान ब्राह्मी को भारतीय लिपि नहीं मानते वे इस धारणा को ले कर चलते हैं कि वैदिक साहित्य कण्ठस्थ रूप में चलता रहा है, लिखित रूप में नहीं । विदेशी विद्वानों की प्रायः यही धारणा रही है । इस में कोई संदेह नहीं कि भारत में गुरु-शिष्य की परम्परा में वैदिक सूक्तों आदि को कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है । परन्तु यह कहना कि सारा वैदिक साहित्य गुरु-शिष्य प्रतिशिष्य में ज़बानी रूप से अटूट आता रहा हो, संदेह का विषय पैदा करता है । इतना बड़ा साहित्य जबानी चलता रहा हो, इस पर विश्वास करने के बहुत कारण नहीं हैं । निश्चित रूप से ही लिखित परम्परा रही होगी और इस बात के स्थान-स्थान पर प्रमाण मिलते हैं कि वैदिक साहित्य में 64 वर्ण थे । निस्संदेह लिपि अवश्य वर्तमान थी । परन्तु, भारतीय इतिहास और साहित्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण देते हैं कि संस्कृत भाषा, और इसलिए 64 वर्णों की लिपि भी, केवल ब्राह्मण आदि, समाज के उच्च वर्गों के लिए सुरक्षित तथा सीमित थी । वैदिक युग का परिष्कृत और संतुलित धर्म केवल कुछेक श्रेष्ठ और विशिष्ट वर्ग के लिए निर्धारित था जिन्हें अत्यन्त श्लिष्ट और कलापूर्ण भाषा संस्कृत का ज्ञान होता था, जो साधारण व्यक्तियों के लिए न केवल कठिन थी, बल्कि समाज के निम्नवर्ग के लिए इस पवित्र विद्या को सीखने, पढ़ने और सुनने की आज्ञा नहीं थी । ऐसी स्थिति में यह बड़ा स्वाभाविक है कि समाज-सुधार के कठोर परिश्रम और आन्दोलन में सामान्य लोगों के लिए आम-फहम और आसान लिपि बनाई गई हो । महात्मा बुद्ध ने अपने प्रचार के लिए जनता की सामान्य भाषा का प्रयोग किया था और अपने नियमों के प्रचार के लिए सामान्य लिपि अपनाई होगी । जैसे व्याकरण के कठोर नियमों में जकड़ी भाषा ने क्रमशः पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि साधारण जनता की सरल भाषा को स्थान दिया, उसी तरह वैदिक लिपि ने भी साधारण लिपि को जन्म दिया होगा । और, उस के उदाहरण अशोक के शिलालेखों की लिपि है । इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मी सामी आदि विदेशी लिपियों पर आधारित नहीं है जसा कि बूलर आदि विद्वानों ने सिद्ध किया है, बल्कि यह अवश्य ही इससे पूर्व विद्यमान किसी भारतीय लिपि से उत्पन्न हुई है, जो स्वयं संस्कृत से उद्भूत हुई थी ।

बूलर आदि विदेशी आधार के समर्थकों को ब्राह्मी का जन्म भारत में होने पर इसलिए आपत्ति थी कि इससे पूर्व किसी प्रकार की लिपि के चिन्ह नहीं थे । लिपि के विकास के लिए चित्रात्मक, रेखात्मक, भावात्मक भाव-ध्वन्यात्मक, अक्षरात्मक तथा वर्णात्मक क्रमिक लड़ियां आवश्यक हैं , जो उन्हें

ब्राह्मी के लिए प्राप्त न थीं । सामी लिपि का काल विद्वानों ने 1900 ई0 पू0 के आस पास माना है । इस की दो शाखाओं में से उत्तरी सामी सीरिया और फिलस्तीन में प्रचलित थी और दक्षिण सामी अरब आदि में प्रयुक्त होती थी । इस के उत्तरी रूप से ही बूलर ने ब्राह्मी का जन्म सिद्ध किया था । परन्तु, 1921-22 में मोहन जोदड़ो और हड़प्पा नगरों की खोज के बाद भारत में लिपियों के अध्ययन में नया मोड़ आ गया है । इन नगरों की खोज के साथ-साथ सिन्धु घाटी की लिपि भी खोज में आई है । सिन्धु सभ्यता के कई स्थानों से मोहरें और चित्र प्राप्त हुए हैं । यद्यपि सिन्धु लिपि को पढ़ने में अभी किसी को सफलता नहीं मिली है, परन्तु बहुत विद्वानों का यह मत है कि यह लिपि भाव और अक्षर-मूलक लिपियों का मिश्रण है । यह आशा की जाती है कि इसमें कोई कड़ी मिल जाए जिस से इसे पढ़ा जा सके और सम्भवतः तब यह ब्राह्मी लिपि की जननी सिद्ध हो । क्योंकि यह भावलिपि और अक्षर लिपि के बीच खड़ी लगती है, और इसके बहुत से अक्षर ब्राह्मी के अक्षरों से मिलते हैं । सिन्धु लिपि के पढ़े जाने पर न केवल ब्राह्मी के स्रोत पर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा अपितु लिपियों के विकास के सम्बन्ध की कई समस्याओं से पर्दा उठ जाएगा ।

सिन्धु घाटी की लिपि के ज्ञान से खरोष्ठी के स्रोत के बारे में भी अन्तिम निर्णय होने की आशा की जा सकती है । खरोष्ठी का आरम्भिक इतिहास भी इतना ही प्राचीन है, जितना ब्राह्मी का । डा0 टेलर के साथ सहमति व्यक्त करते हुए बूलर ने इसकी उत्पत्ति आरमेइक लिपि से लगभग 500 वर्ष ई0 पू0 मानी है । इस मत को लग-भग सभी विद्वानों की सहमति प्राप्त है यद्यपि डा0 राजबली पाण्डेय जैसे विद्वान इसे शुद्ध भारतीय लिपि मानने के हक में हैं । यह लिपि आरम्भ में ब्राह्मी के विपरीत और उर्दू की तरह दायें से बायें को लिखी जाती थी । बाद में ब्राह्मी के प्रभाव के कारण इसमें काफ़ी परिवर्तन आया अन्यथा इस में स्वरों के लिए मात्राओं के प्रयोग का अभाव था और इसलिए भारतीय भाषाओं के लिखने के लिए यह लिपि परिपूर्ण नहीं थी । फलतः शीघ्र ही इस की समाप्ति हो गई । भारत में इस का प्रचलन समय पांचवीं सदी ईसा पूर्व से तीसरी सदी ई0 तक माना जाता है । इस दौरान भी यह महाजनी लिपि की तरह केवल कामचलाऊ लिपि रही है । साहित्य के क्षेत्र में यह भारत के पश्चिमोत्तर भाग में प्राकृत बोली को लिपिबद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुई है[1] । प्राकृत भाषाओं की ध्वनियों को भी यह पूर्णतः अभिव्यक्त करने में असमर्थ थी, क्योंकि स्वरों में में इस में केवल अ, इ, उ, ए, ओ और अनुस्वर अं के अतिरिक्त अन्य स्वर नहीं होते ।

1. गुणाकर मुले: भारतीय लिपियों की कहानी, पृ0 138.

tharahkardu.in

पहाड़ी के लिए प्रयुक्त लिपि

लिपि की पूर्वोक्त पृष्ठभूमि में पहाड़ी भाषा के लिए लिपि के विषय में विचार करना अब उचित रहेगा। हिमाचल प्रदेश की भूतपूर्व रियासतों में लेखा-जोखा और पत्र-व्यवहार के लिए जो लिपि प्रयुक्त होती रही है, वह प्रा- य: टांकरी के नाम से प्रसिद्ध है। स्थान-स्थान पर यह टाक्री, टांकरी, टांखरी, ठाकरी, ठक्कुरी, टककरी और टक्की आदि नामों से जानी जाती रही है। टाकरी शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विद्वानों ने भिन्न मत व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान इस का शुद्ध रूप ठक्कुरी या ठाकरी मान कर इसका ठाकुर शब्द से सम्बन्ध जोड़ कर ठाकुरों की लिपि मानते हैं। इस प्रदेश में ठाकुर लोगों का विशेष महत्व रहा है। और इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में इधर ठाकुरों और राणाओं का राज्य रहा है और उन द्वारा प्रयुक्त लिपि ठाकरी या ठाक्कुरी कहलाई है। डा0 ग्रियर्सन के अनुसार 'टाकरी' लिपि का नाम सम्भवत: 'टक्क' शब्द से प्रसूत हुआ है। टक्क एक शक्ति- शाली जाति हुई है जिस ने एक बार देश के इस भाग में राज्य किया है। शाकल उन की राजधानी थी, जिसे डा0 फ्लीट वर्तमान सियालकोट मानते है[1]। इस लिपि का सर्वाधिक स्थानीय प्रचलित नाम टांकरी है, और डा0 भोलानाथ तिवारी इसका सम्बन्ध टांक जाति से मानते हैं[2]। वास्तव में 'टांकरी' की उत्पत्ति सं0 टङ्क से मानी जानी चाहिए। टंक धातु का अर्थ छीलना, खुरचना, छिद्र करना, टांकना है और इस का सीधा सम्बन्ध लिखने से है। स्थानीय भाषा में 'टांकना शब्द आज भी लिखने के लिए प्रयुक्त होता है। सं0 टङ्क से टाक या टांक बनना भी प्राकृत-अपभ्रंश के नियमों के अनुकूल है, विशेषत: पहाड़ी भाषा में 'अ' और 'आ' में बदलना व्यापक प्रवृत्ति है।

नाम की तरह ही टांकरी के स्रोत के बारे में भी विभिन्न राय हैं। बूलर के अनुसार टाकरी लिपि शारदा लिपि से निकली है। डा0 ग्रियर्सन टाकरा और शारदा को एक ही स्तर पर रख कर इन्हें एक दूसरे की बहिनें मानते हैं। पंडित हीराचंद गौरीशंकर ओझा के अनुसार टाकरी लिपि केवल शारदा लिपि का द्रुतलिखित शिकस्ता रूप है। कुछ विद्वान टाकरी का स्रोत खरोष्ठी लिपि मानते हैं। उनके अनुसार खरोष्ठी लिपि इसी भू-भाग से सम्बन्धित रही है, और उसी का बाद का रूप टांकरी लिपि है। टांकरी में भी शारदा की तरह दीर्घ स्वरों का अभाव रहा है। परन्तु खरोष्ठी से

1. Dr. Grierson: Linquistic Survey of India, Vol. IX, Part IV page 375.
2. डा0 भोलानाथ तिवारी: भाषा–विज्ञान कोश पृ0 236.

टाकरी का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। केवल दीर्घ-स्वरों के अभाव के कारण इसे खरोष्ठी पर आधारित नहीं माना जा सकता जहां खरोष्ठी लिपि दायें से बायें ओर को लिखी जाती है, टाकरी लिपि देवनागरी की तरह बायें से दायें ओर को लिखी जाती है। इस के अतिरिक्त टाकरी का कोई अक्षर ख- रोष्ठी से नहीं मिलता। वास्तव में टाकरी का स्रोत ब्राह्मी लिपि है। ब्राह्मी की दो शैलियां विकसित हुई हैं दक्षिणी शैली से तेलुगु, कन्नड़, तमिल आदि लिपियां निकली हैं और उत्तरी शैली से देवनागरी, गुजराती, बंगला, उड़िया तथा शारदा आदि लिपियों का का विकास हुआ है। टाकरी, लंडा, महाजनी और डोगरी 'लिपियां एक ही श्रेणी में आती हैं और इन का विकास ब्राह्मी के शारदा रूप से माना जा सकता है। शारदा लिपि का मुख्य स्थान काश्मीर है।

टांकरी के विभिन्न रूप

भूतपूर्व पहाड़ी रियासतों में टांकरी के अक्षर सभी स्थान पर एक जैसे नहीं थे। न केवल अक्षरों की बनावट में अन्तर था, वरन् अक्षरों की संख्या में भी भिन्नता थी और विभिन्न रियासतों में लिपि का नाम रियासत के नाम पर भिन्न था। जैसे चम्बयाली, सिरमौरी, कुलुई, मण्डियाली लिपि आदि। इन लिपियों के स्थानीय रूप में इतनी भिन्नता थी कि एक के अक्षर दूसरे से बहुत कम मिलते हैं। मुख्य लिपियों की विशेषताएं इस प्रकार देखी जा सकती हैं:–

सिरमौरी टांकरी लिपि में स्वरों के लिए केवल 'अ' अक्षर है। इसी 'अ' पर मात्राएं लगा कर आ, इ, उ, ए, ऐ, ओ, औ अन्य स्वर बन जाते हैं। परन्तु ई और ऊ के लिए न मूल स्वर है न ही व्यजनों के साथ संयोग के लिए इन की मात्राएं हैं। इस लिपि में, इस तरह 'कि' और की, 'कुल और 'कूल' में कोई भेद नहीं किया जा सकता। अक्षरों का आकार किंचित गोल है और किसी भी अक्षर पर ('आड़ी') रेखा नहीं है। व्ययंजनों में ङ, ञ, झ, व के लिए भी कोई भी कोई अक्षर नहीं हैं। यह अधिकत: सिरमौरी धारठी लिखने के लिए प्रयुक्त हुई है।

क्योंथल आदि शिमला पहाड़ी रियासतें देव नागरी लिपि अपनाती रही हैं। परन्तु राजा बुशहर की अलग लिपि थी, जिसे बोली के नाम पर ही कोची टाकरी कहा जाता था। यह रूप में सिरमौरी टाकरी से बहुत भिन्न थी। इस में आड़ी रेखा सभी अक्षरों पर है। यह सिरमौरी से अधिक आसान है। अक्षरों के रूप देवनागरी, गुरूमुखी और तिब्बती के मिश्रण हैं। ए, ग, ट, ड देवनागरी

के, घ, त, थ, प, म, र, और स गुरमुखी के तथा च, छ, ज, न, और ब तिब्बती
के अक्षरों से बिल्कुल साम्य रखते हैं । शेष अक्षर टांकरी के हैं । यह लिपि
भी अपने आप में पूर्ण नहीं है । इसमें भी सिरमौरी की तरह ई और ऊ
स्वर न मूल रूप में हैं, न मात्रा रूप में । इस लिपि में कुछ और वर्णों की भी
कमी है । अर्थात् इस में ङ, ञ के अतिरिक्त झ, ठ, ढ, श
वर्ण भी नहीं हैं । महाप्राणों की यह कमी तिब्बती का प्रभाव
हो सकता है । तिब्बती में सघोष महाप्राण वर्ण नहीं होते । बुशहर-
रियासत का आधा भाग आर्यभाषी था और आधा तिब्बती-बर्मी । कोची टाकरी
में एक विशिष्टता यह है कि इस में 'म्ह' वर्ण भी है जो पहाड़ी की सभी
बोलियों की मुख्य ध्वनि है, परन्तु किसी अन्य टांकरी लिपि में इस का अस्त्वि
नहीं है । इस में श, ष और स के लिए एक ही अक्षर है और
ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जहां बिंदी आदि लगाने से इन में भेद किया जाता
रहा हो ।

कुलुई टाकरी में दीर्घ स्वरों का अभाव है । सिरमौरी और कोची में औ के लिये
ओ से भिन्न अक्षर हैं । परन्तु कुलुई में औ के लिये ओ से अलग अक्षर नहीं है।
वहां ओर तथा और एक ही रूप में लिखे जाते हैं । इस तरह जहां सिरमौरी
और कोची में केवल उ, ऊ तथा इ, ई में आपस में भेद नहीं है, कुलुई में इन
के अतिरिक्त ओ, औ में भी भेद नहीं है । इस के अतिरिक्त कुलुई में कुछ अक्षर
दो तरह से लिखे जाते हैं । ऐसे वर्ण अ, च, छ, ज, झ, ठ, ड, ण, थ, ध, न,
फ, ब, भ, म हैं जिन के दो या तीन रूप साथ-साथ प्रचलि रहे हैं । यूं लगता
है कि जो रूप सिराज क्षेत्र में प्रचलित था वह कुल्लू में प्रचलित रूप सें कुछ
भिन्न था और इसीलिए इस तरह के दो दो अक्षर साथ-साथ चलते रहे हैं ।
इस बात का प्रमाण इस बात से भी स्पष्ट होता है कि इस तरह दो-दो रूपों में
से च, छ, ज, ड, के एक रूप कोची से मिलते हैं जो तिब्वती के अक्षर हैं ।
यहां यह बात स्पष्ट करना अधिक उचित होगा कि तिब्वती लिपि स्वयं ब्राह्मी के
कुटिल रूप से विकसित हुई है । लगभग 624-648 ई0 के समय तिब्बत के
सम्राट् सोङ-चैन-गम्पों ने अपने महामन्त्री थोनमी-सम्भोट* को कुछ अन्य मन्त्रियों
के साथ भारतवर्ष भेजा ताकि वह तिब्वती भाषा के लिये लिपि का आविष्कार
करें जो बौद्धधर्म के साहित्य को तिब्वती में लिप्यन्त्र करने में सफल हो । थोनमी
सम्भोट ने लग-भग चौदह वर्ष तक नालंदा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया और
उस समय की ब्राह्मी-कुटिल लिपि के आधार पर तिब्वती लिपि का आष्किार किया।

*श्री के0 अंग्रूप लाहुली : सम्भोट व्याकरण पृ0 7

बहुत सम्भव है कि उस समय हिमालय की तराई में टाकरी लिपि प्रचलित थी
और उसी का रूप तिब्वती लिपि धारण कर गई हो । टाकरी लिपि का उस
समय प्रचलित होना बड़ा सम्भव है क्योंकि इस के प्राचीनतम रूप किरग्राम (कांगड़ा)
की बैजनाथ प्रशस्तियों के दो लेखों में पाए गए हैं जिनका समय 804 ई0
माना जाता है[1] । स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में टाकरी लिपि काफी प्राचीन समय से
प्रयोग में रही है और थोनमी सम्भोट द्वारा प्रतिपादित लिपि इस ब्राह्मी कुटिल
लिपि के रूप टाकरी पर आधारित थी । हिमाचल की भूतपूर्व रियासतों की टांकरी
लिपियों की तरह ही तिब्वती में भी दीर्घ स्वर नहीं होते वहां केवल इ, उ,
ए, ओ चार स्वर हैं । जो अ पर मात्रा लगाने से बनते हैं और प्रत्येक व्यंजन
के साथ अ-स्वर स्वाभाविकतः विद्यमान है, परन्तु इनकी ध्वनि हिन्दी के ह्रस्व
और दीर्घ स्वरों के बीच की है ।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त कुलुई टाकरी में दो अन्य विशेषताएं 'य'
और 'व' का अभाव है । कुलुई में य और व व्यंजन मूलतः विद्यमान नहीं हैं ।
'य' ध्वनि की अभिव्यक्ति 'इ आ' द्वारा तथा 'व' की 'उ आ' द्वारा की जाती है।
कुछ बाद के लेखों में इ और ई में भेद किया है । 'ई' स्वर की अभिव्यक्ति 'इ'
के आगे दो बिन्दियां लगा कर की गई है अर्थात् इ तथा इः। परन्तु ऐसा भेद
उ और ऊ के लिए दिखाई नहीं देता और न ही ओ तथा औ के बीच भेद प्रकट
होता है ।

इन टाकरी लिपियों में मण्डियाली लिपि सिरमौरी, कोची और कुलुई से अधिक
प्रचलित रही है । मण्डियाली के इ, ख, ग, घ, झ, ट, ठ, ङ, ढ, म अक्षर कुलुई
से च, छ, ज, न, ब कोची और कुलुई से (जो तिब्बती से भी मिलते हैं)
ट, ठ, य, र, ल देवनागरी से तथा उ, त, थ, फ, भ, म और स गुरुमुखी से
मिलते हैं । मण्डियाली लिपि में अ, ए, क, झ, ण, प तथा के अक्षर अन्य लिपियों
से नहीं मिलते, ये इस के अपने रूप हैं । अन्य सभी टाकरी लिपियों की तरह
मण्डियाली टांकरी में भी दीर्घ-स्वरों का अभाव है । इस में भी ऊ और औ के
लिए क्रमशः उ और ओ से भिन्न अक्षर नहीं हैं । श, ष, स के लिये केवल एक
वर्ण स (जो गुरुमुखी की तरह है) है । यूं भी मण्डियाली में श तथा स प्रायः
स में ही बदलते हैं । कुछ अन्य विशिष्टताओं में मण्डियाली में ल के अतिरिक्त
ल़ वर्ण का अस्तित्व है । यद्यपि पहाड़ी की सभी बोलियों में ल और ल़ अलग-
अलग ध्वनियां हैं परन्तु केवल मण्डियाली में ही इन दो के लिए अलग अलग अक्षर
हैं । मण्डियाली लिपि संयुक्त अक्षरों के लिए भी प्रसिद्ध है । इस में त्त, ण्ह, न्ह,

1. G. Buhler: Indian Paleography, p. 91.

ज्य, छ्य, न्ह्य, त्र, प्र, स्र, रव्व, ग्व, द्व, ख संयुक्त व्यंजन मूल लिपि के वर्ण हैं
और लिखित प्रयोग भी अधिक व्यापक है ।
पहाड़ी की टाकरी लिपियों में सब से विकसित रूप चम्बयाली टाकरी का है।
इस में मूल रूप से वे सभी स्वर हैं जो देवनागरी में हैं । परन्तु माता की दिशा
में वह संदिग्धता बनी रहती है जो अन्य टांकरी लिपियों के बारे में है । स्वरों
की मात्राएं अधिक स्पष्ट नहीं हैं । एक स्वर की मात्रा दूसरे से बहुत मिलती-जुलती
है, विशेषतः कुछ व्यंजनों का साथ इन का सहयोग कठिन है, और कई लेखक उर्दू
के जबर, जेर, पेश की तरह मात्राएं प्रयोग ही नहीं करते और इस तरह दिमाग
के लिए बोझ बना रहता है । विशेषतः इ और ई, उ और ऊ, ए और ऐ, ओ
और औ में आपस में स्पष्ट भेद नहीं है । मूल स्वरों में अ का अक्षर ए, ऐ, ओ
औ और अं के लिए प्रयुक्त होता है जैसा देवनागरी में भी ओ, औ, अः के लिए
होता है, अर्थात् ए, ऐ, भी अे, अै रूप में लिखे जाते हैं । व्यंजनों में छ, ज, झ,
द चम्बयाली के अपने अक्षर हैं शेष सभी वर्ण देवनागरी से या किसी न किसी
दूसरी पहाड़ी टाकरी लिपियों से मिलते हैं । श को स के नीचे बिन्दी लगा कर
दिखाया जाता है । इसमें ल के नीचे बिन्दी लगाने से ल़ को अलग दिखाया जाता
है । इसी तरह से ड और ढ के नीचे बिंदियां लगाने से देवनागरी की तरह ही
ड़ और ढ़ का आविष्कार किया गया है । संयुक्त व्यंजनों में क्य, ख्य, क्र, त्र, द्र,
ल्ह का प्रयोग भी मिलता है ।

पहाड़ी की ध्वनियां और लिपि की उपयुक्तता

ऊपर उन लिपियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है, जिनमें पहाड़ी की विभिन्न बोलियां लिखी जाती रही हैं । इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं देवनागरी और उर्दू लिपि का भी प्रयोग रहा है । परन्तु इन में से कोई भी लिपि पहाड़ी भाषा के लिए अपने-आप में पर्याप्त नहीं हैं । लिपि की पर्याप्तता पर विचार करने से पूर्व पहाड़ी की ध्वनियों पर सारांश में प्रकाश डालना अधिक उचित होगा। पहाड़ी भाषा में कुछ ऐसी विशिष्ट ध्वनियां हैं, जो पास-पड़ोस की भाषाओं में नहीं मिलतीं।

स्वर-वर्णों में देवनागरी के अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ के अतिरिक्त पहाड़ी में दो अन्य स्वर हैं जिन्हें यहां एँ और ओँ द्वारा दिखाया जाता है । ऐ की ध्वनि ए और ऐ के बीच तथा ओं की ओ और औ के बीच की है । पहाड़ी की ये दो ध्वनियां प्राकृत-अपभ्रशं की देन हैं । प्राकृत-अपभ्रंश में भी यह दोनों ध्वनियां थीं जिन्हें भाषा-विज्ञान में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ कहा गया है । परन्तु लिखित रूप में उन के लिए अलग अक्षर नहीं थे, एँ को कहीं ए से तो कहीं ऐ से लिखा जाता था । ऐसे ही ओँ को कहीं ओ तथा कहीं औ द्वारा व्यक्त किया

उद्‌घाटनावसर पर मुख्य मन्त्री का स्वागत, साथ में श्री बाबू राम मण्डयाल, मुख्य संसदीय सचिव दिखाई दे रहे हैं।

मिजर के अवसर पर कवि-सम्मेलन का एक दृश्य। प्रो0 नारायण चन्द पराशर, सदस्य लोक सभा तथा श्री विक्रम चन्द महाजन, सदस्य लोक सभा प्रार्थी जी की कविता का रसास्वादन करते हुये।

जाता था । पहाड़ी में भी ठीक यही स्थिति है । ये दोनों ध्वनियां स्पष्ट रूप से पहाड़ी में विद्यमान हैं, और आज पहाड़ी के लेखक प्राकृत-अपभ्रंश लेखकों की तरह ऍं को कहीं ए से कहीं ऐ से और ऑं को कहीं ओ से और औ से लिखते हैं । इस सम्बन्ध में एक वात स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है । वह यह कि ये दोनों ऍं और ओ ध्वनियां उच्चारण रुप में तो स्पष्ट रूप में हैं और इन के बारे में कोई संदेह या शक-शुबा नहीं है । परन्तु हमें ये ध्वनि (Phonemes) की बजाय संध्वनियां (Allphones) लगती हैं । भारी प्रयत्न करने के बावजूद भी हमें इन के विभेद के लिए कोई युगल शब्द किसी भी बोली में नहीं मिल सके हैं । ध्वनियां होते हुए भी ये ऐसी ध्वनियां सिद्ध नहीं हो सकी हैं जिन से अर्थ-भेद हो सके । अतः ऍं और ओं ध्वनियां तो हैं, परन्तु विभेदक ध्वनियां नहीं हैं, ऐसी ध्वनियां नहीं हं जिनकें प्रयोग से कोई युगल शब्द बनते जहां इनकी सत्ता स्पष्ट हो जाती है । वास्तव में ये दोनों प्रवृत्ति रूप में प्रचलित हैं । पहाड़ी में 'अ' स्वर 'ओ' में बदलने की प्रवृत्ति रखता है—जैसे, डर=डोर, घर=घोर, मर=मोर, गए=गोएँ, कर=कौर, पड़ना=पौणा, आदि इसी तरह ऍं प्रायः ए का प्रवृत रूप है । यह ध्वनि प्रायः शब्दों के अन्त में मिलती है, जैसे—पहलैं=पहले, हौलैं-हौलैं=हल्के हल्के, खाई-लैं=खाले, म्हारैं=हमारे, जैंरैं-जैंरैं=जैसे आदि । बास्तव में जब 'ए' ध्वनि शब्दों के अन्त में आ जाए तो यह गिर जाती है और श्रुत कर जाती है । इस तरह 'तेरे' शब्द तेरैं हो जाता है—लेखे=लेखैं, करे=करैं, चुह्लैं=चूल्हे आदि । अतः यह स्पष्ट है कि ये दोनो ध्वनियां व्यापक रूप में विद्यमान होते हुए भी केवल प्रवृत्ति के कारण हैं और स्वतन्त्र ध्वनि के रूप में इनका प्रचलन नहीं हैं । इसलिए लेखक का विनम्र सुझाव है कि लिपि को जटिलता के दोष से बचाने के लिये इन दोनों ध्वनियों के लिए अलग अक्षर न घड़े जाएं। ओं की ध्वनि ओ की अपेक्षा औ के अधिक निकट है, और इसी के साथ इस के न्यूनतम विरोधी युग्म (Minimal Pairs) नहीं बनते या मिलते, परन्तु ओ के साथ इस का स्पष्ट अन्तर है । अतः वर्तनी में एकसारता लाने के लिए और लिपि को जटिलता से बचाने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि ओं को औ द्वारा प्रकट किया जाए । इसके लिए ओ स्वर या ओं नये स्वर की मात्रा न लगाई जाए । इसलिए 'कौसरा' न कि 'कोसरा' (किसका), 'जौसरा' न कि 'जोसरा' (जिस का), 'औसौ' न कि 'ओसो' (है), 'औथं' न कि 'औथं' (अर्थ) आदि ।

जहां तक 'ऍं' का सम्बन्ध है, इसकी ध्वनि ए और ऐ दोनों के बीच है । किसी की ओर अधिक झुकाव नहीं है । यह प्रायः शब्दों के अन्त में अधिक मिलती है । आदि तथा मध्य में इस ध्वनि का उदाहरण नहीं मिलता आदि और मध्यम में ए और ऐ ध्वनियां ही प्रचलित हैं । शब्द के अन्त में भी यह अधिकतः 'ए' का

'तेरे' का उच्चारण 'तेरे' 'मेरे' का
विकृत रूप या प्रवृत रूप है । शब्द के अन्त में 'तेरे' का उच्चारण 'तेरे' 'मेरे' का
'मेरे', 'हमारे' का 'म्हारे', हो जाता है । यहां भी दो बातों का विशेष रूप से
ध्यान रखना आवश्यक है— प्रथम जटिलता से बचाव, जिस का पहले ही उल्लेख
किया गया है, तथा दूसरे हिन्दी के निकट रहने की आवश्यकता । कुछ विद्वानों की
यह बड़ी तीव्र मनोवृत्ति है कि पहाड़ी को हिन्दी से दूर रखा जाए । ऐसे विद्वानों
को यह भय है कि हिन्दी शब्दों और ध्वनि को अपनाने से पहाड़ी के अस्तित्व को
क्षति पहुंचेगी । ये विद्वान 'हाथ' को भी 'हात्थ' 'रुठना' को रूठ्ठना', 'रोग' को
'रोग्ग', आदि लिखने की ओर बल दे रहे हैं । उन्हें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए
कि पहाड़ी भाषा की शैली हिन्दी तथा पंजाबी से इतनी भिन्न है कि इस तरह के
भय का नितान्त कोई कारण नहीं है । बल्कि जरूरत इस बात की है कि पहाड़ी
को हिन्दी के अधिक निकट रखा जाए । यह राष्ट्रीय भावना के भी अनुकूल है ।
अतः यह जरूरी है कि चूंकि ऍ का ए या ऐ से इस तरह का भेद नहीं है कि
वह न्यूनतम विरोधी-युग्म बना सके इसलिए इसे पूर्णतः 'ऍ' द्वारा दिखाया जाए ।
इस के लिए ऐ का प्रयोग न किया जाए जैसा कि कुछ लेखक कर रहे हैं । 'ऍ' के
स्थान पर ऐ का प्रयोग पहाड़ी को हिन्दी से बहुत दूर ले जाएगा, और इस समय
ज़रूरत इस बात की है कि राष्ट्र भाषा हिन्दी के निकट रहा जाए । अतः तेरे को
तेरँ, तारे को तारँ, केले को केलँ, पहले को पहलँ, सरकारे को सरकारँ (सरकार
ने) लिखना उपयुक्त न होगा । इसी तरह वर्तनी की एकसारता के लिए मूखे,
मूले, मून्वे, तेवे, एवे, तौवे, तँथुए, कदेए, कारनामें, जे, दूजे लिखना अधिक ठीक
और जरूरी है बजाय मूख-मुखँ मूल-मूलँ, मूंव-मूंवँ, तेव-तेवँ, एव-एवँ, तौव-तौवँ, तँथुऐ
कदेऐ, कारनामँ, जँ, दूजँ लिखने के । निष्कर्ष के रूप में यह पुनः लिखा जाना
उचित होगा कि लिपि की जटिलता को रोकने के लिये, वर्तनी की एकसारता के
उद्देश्य से तथा हिन्दी के निकट रहने के अभिप्राय से पहाड़ी शब्दों के अन्तिम ऍ
को ए द्वारा तथा ऑ को औ द्वारा अभिव्यक्त करना युक्तिसंगत है । यह पहले
ही स्पष्ट कर दिया गया है कि इस प्रकार के प्रयोग से अर्थ-भेद की सम्भावना नहीं
है क्योंकि ऍ और ऑ स्वतंत्र ध्वनियां होते हुए भी ऐसी ध्वनियां नहीं हैं जो
अर्थ-भेद या न्यूनतम विरोधी युग्म बना सके ।

स्वरों की तरह ही पहाड़ी भाषा में कुछ ऐसे व्यंजन हैं जो हिन्दी, पंजाबी या
उर्दू में विद्यमान नहीं हैं । ऐसे प्रमुख स्वरों में प्रथमतः चवर्ग ध्वनियां है जो चवर्ग
ध्वनियों से भिन्न हैं, अर्थात् पहाड़ी में च, छ, ज, झ, तालव्य ध्वनियों के साथ-साथ
च़, छ़, ज़, झ़ ध्वनियां भी हैं जो कहीं वर्त्स्य और कहीं कहीं दन्त्य हैं । अन्तर्राष्ट्रीय
ध्वनिलिपि (I. F. A.) में इन्हें क्रमशः ts, tsh, z, dz द्वारा दिखाया जाता है।
यहां ये सभी संध्वनियां नहीं हैं, बल्कि पूर्ण स्वतंत्र तथा विभेदक ध्वनियां हैं—अर्थात्

च का च़, छ का छ़, ज का ज़ और झ का झ़ विकृत रूप नहीं है, वरन् दोनों
अलग-अलग स्वतंत्र ध्वनियां हैं । निम्नलिखित उल्पत विरोधी युग्मों से इस बात
की पुष्टि हो जाएगी ।

च़ोर (चोर-अपराधी) च़ोर (शहतूत की किस्म)
च़ौखुआ (उठाया गया) चौखुआ (सड़ गया)
मौछ़ी (मछली) मौछी (मक्खी)
छ़ीका (छींकें) छीका (रस्सी का झोला)
ज़ाया (जाए) जाया (संतान)
झ़ौड़ (गिर जा) झौड़ (लम्बा परन्तु तंग खेत)

न उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि च़, छ़, ज़, झ़ वर्ण तालव्य च, छ, ज, झ
की क्रमशः संध्वनियां नहीं हैं वरन् स्वतंत्र ध्वनियां हैं । निस्सन्देह भीतरी पहाड़ी
में चवर्ग को च़वर्ग में बदलने की प्रवृति है । परन्तु ये वर्ण प्रवृत्ति तक सीमित नहीं
हैं, अलग ध्वनियां हैं ।

च़वर्ग ध्वनियों के अतिरिक्त पहाड़ी में एक और स्वतंत्र ध्वनि मूर्धन्य 'ल़' है ।
यह दन्त्य 'ल' का विकृत रूप नहीं है । यह ठीक है कि यहां भी प्रायः 'ल' को
'ल़' में बदलने की प्रवृत्ति है परन्तु यह स्थिति प्रवृत्ति तक सीमित नहीं है ।
पहाड़ी में मूर्धन्य ल़ दन्त्य ल की संध्वनि नहीं है, वरन् दोनों ही स्वतंत्र और
विभेदक ध्वनियां हैं । निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये दोनों
ध्वनियां पहाड़ी में बिल्कुल स्वतंत्र ध्वनियां हैं :—

काली (काली माता) काल़ी (काले रंग की)
लाला (लाला जी) लाल़ा (मुंहकी राल)
शौल (आँवल) शौल़ (दराड़)
मौल (पहलवान) मौल़ (गोबर)
पाला (कमीज़ आदि का दामन) पाल़ा (कोरा)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पहाड़ी भाषा में हिन्दी की देवनागरी लिपि के
वर्णों के अतिरिक्त च़, छ़, ज़, झ़ और ल़ विशेषतः इस के अपने वर्ण हैं । स्वरों
में भी ऍ और ऑ और ध्वनियां हैं, परन्तु जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है
ये दोनों ध्वनियां किसी अन्य स्वर के साथ अर्थ-भेद प्रकट नहीं करते । इसलिए
इन्हें ए और औ द्वारा ही अभिव्यक्त करना उचित है तथा लिपि की जटिलता को
दूर रखना है । परन्तु च़, छ़, ज़, झ़ और ल़ ऐसी ध्वनियां हैं जो अर्थभेद पैदा
करती हैं । अतः इन्हें च, छ, ज, झ तथा ल द्वारा व्यक्त करना उचित नहीं है ।

लिपि की पर्याप्तता

पिछले पृष्ठों में पहाड़ी भाषा की ध्वनियों का वर्णन किया गया जिस में यह स्पष्ट है कि पहाड़ी में कुछ ऐसी विशिष्ट ध्वनियां हैं, जो हिन्दी या पंजाबी भाषी के लिए साधारण नहीं हैं । उन टाकरी लिपियों का भी सारांश में उल्लेख किया गया जो भूत-पूर्व रियासतों में पहाड़ी भाषा को लिखने के लिये प्रयुक्त हुई हैं । इन के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन में से कोई भी लिपि पहाड़ी भाषा की सभी ध्वनियों को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है । सभी ध्वनियों की अपेक्षता तो दूर रही, सामान्य ध्वनियों को भी इन लिपियों द्वारा ठीक-ठीक दर्शाया नहीं जा सकता । दीर्घ स्वरों की कमी विशेष रूप से अखरती है । दीर्घ ही नहीं कहीं-कहीं वे ह्रस्व स्वर भी पूरे नहीं हैं । टाकरी लिपि महाजनी लिपि के समान है जिस में गोपनीयता के लिए महाजन लोग इस तरह लिखते थे जो दूसरा पढ़ न सके, या सम्भवतः यह जानबूझ कर न लिख कर महाजनी लिपि की स्वरों की कमी है । साधारण लेखों के लिए शायद स्वरों की मात्राओं की उतनी जरूरत न पड़े क्योंकि उर्दू-फारसी लिपि में भी लेखक ज़बर, पेश, ज़ेर आदि मात्राएं नहीं लगाते परन्तु साहित्यिक और महत्वपूर्ण रचनाओं के लिए इस तरह स्वरों की मात्राओं का अभाव घोर कठिनाइयां पैदा करता है । महाजनी लिपि के बारे में एक मथुरा के महाजन की बात प्रायः कही जाती है । वह घर से बाहर दिल्ली थे और जब वह दिल्ली से अजमेर गए तो उन के मुन्शी ने उन के घर को पत्र लिखा कि 'बाबू अजमेर गया, बड़ी बही भेज दीजिए'! चूंकि हमारी टाकरी की तरह महाजनी में स्वरों की मात्राएं नहीं होतीं इस लिए उस के पत्र को यूं पढ़ा गया 'बाबू आज मर गया, बड़ी बहू भेज दीजिए' और बड़ी बहू रोती-चिल्लाती दिल्ली पहुंची[1]। यही हालत टाकरी लिपियों की है जिन्हें आज तक पहाड़ी को लिखने में प्रयुक्त किया जाता रहा है । चम्बयाली टाकरी में काफी सुधार किया गया था परन्तु वह भी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं उतरी है । इन लिपियों में सुधार की सम्भावनाएं भी बहुत कम हैं । अतः टाकरी लिपि पहाड़ी के लिए उचित लिपि नहीं है ।

पहाड़ी को उर्दू-फारसी (मूलतः अरबी) लिपि में भी लिखा जाता रहा है परन्तु उस की अपनी कमज़ोरियां हैं । विद्वान इस की ज़बर-ज़ेर-पेश मात्राओं के अभाव को बहुत बड़ी कमी मानते हैं जो स्वयं उर्दू-फारसी के लिए भी अनुचित है। दूसरी भाषाओं के सम्बन्ध में तो इन का न होना और भी घातक है । यही नहीं

1. John Beames: A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages, P56.

उर्दू में 'ण' के लिए कोई अक्षर नहीं है, वहां केवल 'न' है, और इस तरह उर्दू में पहाड़ी भाषाके 'बन' और 'बण' में कोई अन्तर नहीं है । इस तरह इस लिपि में 'ल' के लिए 'लाम' अक्षर है जो 'ल' के लिए भी प्रयुक्त होगा । अर्थात् उर्दू लिपि में 'ल' और 'ल़' का भेद नहीं हो सकता । उर्दू में पहाड़ी की अन्य ध्वनियों में से 'ज़' (जे, ज़ाल, ज़ुआद, ज़ोए में से कोई) और 'झ़' (झे) के लिये तो अक्षर हैं परन्तु 'च' और 'छ' के लिए कोई अक्षर नहीं है और चूंकि उर्दू 'चे' में पहले ही तीन बिन्दियां होती हैं, एक बिंदी से जीम बनता है इस लिए बिन्दी द्वारा भी 'चे' से 'च' नहीं बन सकता ।

आजकल पहाड़ी भाषा को देवनागरी लिपि में लिखा जा रहा है । देवनागरी लिपि में बिंदियों के प्रयोग द्वारा पहाड़ी भाषा की सभी ध्वनियों को व्यक्त करने की पूरी सामर्थ्य है परन्तु लेखक बिन्दियों की अनिवार्यता को नहीं समझते तथा इन का प्रयोग न करके कई बार अर्थ का अनर्थ होते देखा जाता है । देवनागरी में 'ज' के नीचे बिंदी लगा कर 'ज़' बनाने का नियम पहले ही हिन्दी समाज में स्वीकृत तथा मान्य हो चुका है । सारे हिन्दी क्षेत्र में 'ज' में बिन्दी लगाने से 'ज़' की अभिव्यक्ति व्यापक और पूर्ण रूप से होती है । इसी नियम का अनुसरण करते हुए 'च' में बिंदी लगाने से 'च़' (ts) 'छ' में बिंदी लगाने से 'छ़' (tsh) तथा 'झ' में बिंदी लगाने से 'झ़' (dz) को व्यक्त किया जाना चाहिये । तिब्बती लिपि में च़वर्ग और चवर्ग अलग-अलग वर्ण-समूह हैं । वहां पर चवर्ग के अक्षरों की आड़ी रेखा के दायें किनारे पर अंकुश या कांटा (hook) लगा कर इन्हें चवर्ग से भिन्न करा दिया है । यह अंकुश उर्दू की गिनती के आठ (٨) की तरह होता है परन्तु ऐसे अंकुश की अपेक्षा बिंदी अधिक बेहतर है । कुछ पाठकों को सम्भवतः चवर्ग ध्वनियों का ज्ञान न हो और वे इन्हें जानने की इच्छा रखते हों तो एक सहज तरीका प्रस्तुत है— अपनी जिव्हा की नोक को निचले दान्तों के सिरों पर टिका दें, उसे वहां से हिलने न दें और फिर क्रमशः च, छ, ज, झ उच्चरित करें च़, छ़, की ध्वनि निकल आएगी ।

'ल़' के लिये महाराष्ट्री में अलग अक्षर (ळ) है, उसे पहाड़ी के लिये प्रयोग किया जा सकता है, अन्यथा यहां भी दन्त्य 'ल' में बिंदी लगा कर मूर्धन्य 'ल़' दिखाया जा सकता है । पहाड़ी के लिए देवनागरी लिपि न केवल ध्वनियों की दृष्टि से उचित है, वरन् राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय हित के लिये भी बहुत जरूरी है ।

मरकुला मन्दिर

—खेमराज गुप्त

हमारे देश में जितने भी प्राचीन मंदिर हैं उन्हें मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जाता
है, पाषाण मंदिर और काष्ठ मंदिर। दोनों ही प्रकार के ये मंदिर अपनी अपनी विशेषताओं
के लिये सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। भवन-निर्माण की इन दोनों शैलियों में हथोड़ी
और छैनी के जो भी कमाल देखने को मिले हैं, वे हमारे अतीत की गौरव गाथायें बन
गई हैं। वे सब शिल्पी और कलाकार अपनी ऐसी अमर कृतियां हमारे लिये छोड़
गए हैं। ऐसी कृतियां जिन्ह देख कर हम भारतीय गर्व से सिर ऊंचा करके चल सकते
हैं, चल रहे हैं और तब तक चलते रहेंगे जब तक संसार कायम है। कलाकार तो
इने गिने थे पर कृतियों पर गर्व करने वाले हम करोड़ों हैं।

भारत में जहां कहीं भी प्राचीन मंदिर हैं उनकी ख्याति अब सारे विश्व में फैल चुकी है
लेकिन ऐसा लगता है कि चम्बा के मंदिरों के बारे में आज भी बहुत कम लोगों को
मालूम है। शायद वहां पहुंचने के लिए मार्गों की दुर्गमता ही मुख्य
रूप से बाधक रही हो। फिर भी जहां कहीं पर्यटक या दूसरे अन्वेषक पहुंच पाए उन्होंने
चम्बा के मंदिरों के बारे में सराहनीय सामग्री खोजी और उसे प्रकाश में भी लाए।
लेकिन अभी तक ऐसे बहुत से प्राचीन मंदिरों के बारे में बताया जाना बाकी रह गया
है जो कलाकारों, कला पारखियों इतिहासकारों और पुरातत्व विभाग के विशेषज्ञों के
लिए बहुत महत्व रखते हैं। ऐसा ही एक मंदिर है "मरकुला देवी" का मंदिर। यह मंदिर
एक ऐसे स्थान पर बना हुआ है जो आज के भौतिक साधन-सम्पन्न युग की सुविधाओं
से बिल्कुल अछूता है। इस स्थान पर आज भी ऐसे लोग बसे हैं जिन्होंने घोड़ों तक की
शक्ल नहीं देखी है कार, मोटर, विज्ञान, बिजली, कारखाने, सिनेमा आदि उनके
लिए स्वप्न-लोक की विचित्र दुनिया से भी कहीं विचित्र हैं। भले ही उन्होंने आज इन
सब चीजों का नाम तो सुन लिया है लेकिन देखने का अवसर अभी मिल नहीं पाया
है।

ऐसे दूरस्थ भाग में एक शानदार और कलापूर्ण मंदिर का निर्माण करवाना या करना
कितने जोखिम का काम रहा होगा इस का अन्दाज़ करना कठिन नहीं है। वहां पहुंचने
के लिए सड़कें आज भी नहीं के बराबर हैं, सदियों पहले कैसी रही होंगी इस की कल्पना
की जा सकती है। अधिकांश सामान आज भी मज़दूरों, कुलियों की पीठ पर जाता है
या हुआ तो भेड़ों पर लाद कर ले गए। लेकिन मंदिर देखने के पश्चात् यह कहे बिना

नहीं रहा जाता कि जिस भी शिल्पी ने इस स्थान को अपनी साधनास्थली बनाया वह
निःसंदेह सच्चा साधक रहा होगा।

चम्बा-लाहुल में स्थित इस गांव का प्राचीन नाम मरगुल या मारूल था। बाद में
इसी गांव का नाम मंदिर के कारण मरकुला पड़ा। यह गांव एक नदी और एक नाल के
संगम पर बसा है। नाले का नाम है 'म्याड़ नाला' और नदी का नाम है चंद्रभागा (चनाब)।
चम्बा से यहां पहुंचने के लिये लगभग सात दिनों तक पैदल चलना पड़ता है। सारे
गांव में मंदिर को छोड़कर कुछ भी देखने योग्य नहीं है, बहुत ही साधारण सा गांव है।
दूर से देखने पर मंदिर भी आकर्षक नहीं लगता क्योंकि बाहरी बनावट से कोई भी यह
अन्दाज़ा नहीं लगा सकता कि भीतर इसी मंदिर में किसी शिल्पी का स्वप्न साकार हो उठा
होगा। बाहर से साधारण सा दिखाई देने वाला यह मरकुला मंदिर एक पहाड़ी ढलान
पर बनाया गया है। पूर्व की ओर इस का प्रवेश द्वार है जिससे भीतर जाते ही मंडप के
दर्शन होते हैं। मंडप छः विशाल खम्भों पर स्थापित है, मंडप की खिड़की दक्षिण की
ओर को खुलती है। मंदिर की छतों का ढलान उत्तर की ओर रखा गया है। शायद इस
लिये कि बर्फ और बर्फानी तूफानों से मंदिर की रक्षा की जा सके। इतना सब कुछ तो
बस साधारण ही है लेकिन मंडप के अंदर पहुंच कर जो कुछ भी देखने को मिलता है, बाहर
से उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मंदिर के प्रवेश द्वार पर ही दो द्वारपाल खड़े
किये गए हैं। लकड़ी की बनी भयंकर और डरावनी मूर्तियों की ऊंचाई छः फुट चार इंच
है। मंदिर में भेंट स्वरूप चढ़ाए जाने वाले बकरे और मेढ़ों का खून इन पर लगाए जाते
रहने से यह और भी डरावने हो गए हैं। द्वारपालों में से एक के सामने की ओर बनी
महराब पर रामायण और महाभारत से संबन्धित चित्र खुदे हैं। खुदाई का यह काम
देवदार की लकड़ी पर किया गया है। दायें से बायें की ओर मुड़ते हुये पूर्वी छोर पर एक बहुत
बड़ा शहतीर लगाया गया है जो एक दुर्ग सा लगता है इस पर कुरुक्षेत्र में हुआ अर्जुन और कर्ण
का युद्ध अंकित किया गया है। इस दृश्य के कुछ आगे की ओर आचार्य द्रोण, कर्ण और
सुशर्मन् को पांडवों पर आक्रमण करते दिखाया गया है। दुर्ग के समान दिखाई देने वाले इस
शहतीर पर युद्धों का चित्रण ही मुख्य रूप से किया गया है। महारथियों और योद्धाओं तथा
उन के रथों और हथियारों को इस खूबी से खोदा गया है कि हर घड़ी हर दृश्य पर वाह वाह
निकल जाती है। दक्षिण की ओर वाले वैसे ही एक भव्य और विशाल शहतीर पर
रामायण के प्रसंग अंकित किये गए है। अधिकांश चित्र समुद्र कांड और युद्ध कांड से ही चुने
गए हैं। लंका की ओर जाने वाले समुद्र का अंकन मछलियां दिखा कर किया गया है।
अन्य चित्रों में हनुमान को संजीवनी का पहाड़ ले जाते हुये तथा अशोक वन में मां सीता
के दर्शन करते दिखाया गया है। सीता के सामने बैठी राक्षसियों में त्रिजटा का अंकन भी
किया गया है। अन्य राक्षसियों की आकृति जहां बुरी दिखाई गई है वहां त्रिजाटा के चेहरे
पर कोमल भावों का अंकन बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ हो पाया है। लंका दहन का दृश्य भी

कुशल कलाकार के सुघड़ हाथों ने बड़ी खूबसूरती से बनाया है। रावण का दरबार, कुम्भकर्ण की निद्रा भंग के दृश्य बहुत श्रेष्ठ बन पाये हैं।

उत्तर की ओर बने दृश्यों में द्रौपदी स्वयंवर का चित्रण किया गया है। अर्जुन द्वारा मत्स्य भेद का दृश्य भी खूब सजीव बना हैं। इन सब परिचित्र कथाओं के चित्र देखते देखते फिर से जब पूर्वी छोर की ओर जाएं तो और भी अधिक सुदंर नमूनों के दर्शन होते हैं, जिनमें से भगवान विष्णु के त्रिविक्रिम अवतार, वामन अवतार की कथायें खास तौर से देखने योग्य हैं। इसी प्रकार पश्चिम की ओर वाली भीतरी दीवार पर समुद्र मंथन, देवासुर, संग्राम, इन्द्रसभा आदि के दृश्य देखते ही बनते हैं। साथ ही साथ शिव परिवार के दृश्य भी बनाये गए हैं। शिव, गणपति, कार्तिकेय, उमा और उन सब के वाहन बड़ी खूबी से और बारीकी से बनाये गए हैं। एक ओर को नवग्रहों तथा चार लोकपालों का चित्रण भी किया गया है, इतना सब कुछ देखते हुये जब हम मंडप की छत की तरफ देखते हैं तो सचमुच ऐसा लगता है जैसे अब तक जो कुछ देखा वह सब इस कलाकृति के आगे फीका था।

मंडप की छत नौ छोटे बड़े तख्तों पर बारीक नक़ाशी करके बनाई गई है। तख्तों को कमलाकार काट कर उन पर छनी और हथौड़ी का जादुई कमाल दर्शाया गया है। इसमें से चार तख्तों पर जो कि क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की ओर हैं खास तौर से बारीक खुदाई की गई है। इन पर आकाश मार्ग से उड़ते हुए गंधर्व युगलों की कलात्मक कलाकृतियां बनाई गई हैं। गंधर्व चतुर्भुज है और उन्होंने मुकुट पहन रखे हैं और साथ ही गंधर्व कन्याओं का आलिंगन किया हुआ है। इस खुदाई पर गुप्तकालीन खुदाई कला का स्पष्ट प्रभाव देखने में आता है। कुछ गंर्धव युगल दैवी वाद्य बजाते भी दिखाये गए हैं। दक्षिण की ओर वाले तख्ते पर छः भुजाओं वाले गंधर्व बनाए गए हैं जो शिव पूजा कर रहे हैं। पूजा सामग्री में घी और केसर शिवलिंग पर गिराते दिखाया गया है। गंधर्व बालायें विभिन्न आकार प्रकार की वीणायें बजाती दिखाई गई हैं। पश्चिम की ओर वाले तख्ते पर देवाधिदेव महादेव के साथ तेरह गणों को मृदंग तथा पखावज बजाते हुये अंकित किया गया है। एक अन्य दृश्य में शिव को नटराज मुद्रा में गौरी के संग नृत्य करते हुए अंकित किया गया है। साथ ही दशभुज धारी भी अंकित हैं जिनके हाथों में विभिन्न दिव्य शास्त्र सुशोभित हैं। भैरव की अन्य मुद्रायें भी बड़ी सजीव बनाई गई हैं। परन्तु सब से विचित्रि बात तो यह है कि उत्तर की ओर के तख्ते पर केवल मात्र भगवान बुद्ध से सम्बंधित चित्र बनाये गए हैं। बुद्ध द्वारा बुद्धपद प्राप्ति के चित्र जिस सफलता से खोदे गये हैं उन्हें देखते ही बनता है। वह किस प्रकार सभी विध्न बाधाओं को जीत लेते हैं इसे दर्शाने में कलाकारों को पूरी सफलता मिली है।

रामचरित मानस चतुःशती के अवसर पर अकादमी द्वारा 'पहाड़ी लोक रामायण' ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। चित्र में श्री एच0 सी0 पराशर, सचिव अकादमी, श्री प्रार्थी जी को मिंजर के अवसर पर ग्रन्थ की प्रति भेंट करते हुये।

बौरा नाटकीय मुद्रा में
(छाया—ओम चन्द हाण्डा)

मंडप के बाद जब मंदिर के मुख्य भाग पर नजर जाती है तो लगता है कि मंडप से भी कहीं अधिक मूल्यवान कृतियां वहां बनाई गई हैं, गौर से देखने पर यह बात पूरी तरह सच भी साबित होती है। यहां पर दशावतारों का चित्रण किया गया है। इन सब की कलात्मकता का परिचय यहां दे पाना आसान नहीं है।

अन्त में मन्दिर में स्थापित प्रतिमा का जिक्र करना ही शेष रह जाता है। प्रतिमा चांदी की बनाई गई है और देवी को महिषासुर का मर्दन करते हुये दर्शाया गया है। देवी की यह प्रतिमा अष्टभुजा वाली बनाई गई है। हां इतना जरूर है कि देवी के सिर पर सुशोभित मुकुट बिल्कुल तिब्बती लामाओं द्वारा बनाए जाने वाले मुकुटों के समान बनाया गया है जिस पर तिब्बती कला का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। ऐसा लगता है कि लाहुल आने वाले किन्हीं तिब्बती कलाकारों ने इस मुकुट को बनाया होगा। वैसे भी तिब्बती श्रद्धालु मरकुला मंदिर में आते रहते हैं। और देवी को मरकुला न कह कर "दोर्जे फग्मो" कहते हैं जिसका अर्थ है—वज्रवाहिनी।

ऐसा ख्याल किया जाता है कि काश्मीर पर जिन दिनों महारानी दिद्दा (980-1013 ई० पश्चात्) का राज्य था उन्हीं दिनों महाराजा अनन्तगढ़ की महारानी सूर्यमति ने इस मन्दिर का निर्माण करवाया था लेकिन इस सम्बंध में इतिहास अभी तक बिल्कुल मौन है कि महारानी ने किस प्रेरणावश इस मंदिर का निर्माण इतने निर्जन स्थान में करवाया था।

भारत की एकता का मुख्य आधार है एक संस्कृति जिसका प्रवाह कहीं नहीं टूटा। यही इसकी विशेषता है। भारतीय एकता अक्षुण्ण है क्योंकि भारतीय संस्कृति की धारा निरन्तर बहती रही है और बहेगी।

मदन मोहन मालवीय।

Scanned with CamScanner

सराहन क्षेत्र (ज़िला शिमला) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

महता एवम् आवश्यकता

पौराणिक शोणितपुर क्षेत्र जिसे वर्तमान समय में सराहन क्षेत्र नाम दिया जाता है जिला किन्नौर की किन्नर-किरात-संस्कृति तथा शिमला ज़िला की आर्य-संस्कृति का संगम स्थल है। इस क्षेत्र के बधाल गांव से परे जिला किन्नौर कीं सीमा आरम्भ हो जाती है। बधाल की बोली किन्नर-क्षेत्र की बोली से भिन्न है और यहां तक कि त्यौहार-उत्सव तथा विवाहादि प्रथाओं में भी अन्तर है। पहरावा व खान-पान तथा देवी-देवताओं से सम्बद्ध विश्वासों में भी पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

शोणितपुर प्राचीन काल में बाणासुर की राजधानी रहा हैं। इस क्षेत्र तथा किन्नर-क्षेत्रीय संस्कृति पर अब भी उस काल की संस्कृति का बहुत गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इसके साथ ही सराहन रामपुर बुशहर के राजाओं की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी रहा है तथा भीमाकाली एवम् लांगुरा बीर के ऐतिहासिक मन्दिरों के कारण इस स्थान का हिमालय के आंचलिक जनपदों तथा समग्र भारतवर्षीय पुराण-कथाओं पर पर्याप्त प्रभाव रहा है। पुराणकथाओं तथा प्रचलित जनविश्वासों में बहुत अन्तर मिलता है। इसके दो कारण हो सकते हैं—प्रथम तो यह कि पुराणकथाओं में वास्तविक घटनाओं का कल्पना के साथ समन्वय मिलता है तथा दूसरा यह कि पुराणकथाएं लिखित रूप में आ जाने के कारण जनविश्वासों से कट गई और उनके साथ लोक-सांस्कृतिक रूप का तारतम्य समाप्त-प्राय: हो गया। संस्कृति का अध्ययन प्रस्तुत करते समय जन-विश्वासों का पौराणिक-कथाओं के साथ अध्ययन करना निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए सहायक होता है।

स्थिति

सराहन क्षेत्र रामपुर बुशहर नगर से लगभग 45 किलोमीटर के अन्तर पर पूर्व-दक्षिण की ओर 7,397 फुट की ऊंचाई पर स्थित एक सुरम्य स्थल है। शिमला से इसकी दूरी 177 किलोमीटर है। पहाड़ों के गर्भ में स्थित होने के कारण इस क्षेत्र

में सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं के बराबर हुए हैं। यहां का जलवायु स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है। 'श्रीखण्ड' की पवित्र पर्वत-श्रृंखला के सामने स्थित होने के कारण यहां हिमाच्छादित पर्वत-शृंग मनोहारी दृश्य उपस्थित करते हैं।

परगना सराहन में दो घोड़ियां (ग्राम-समूह) हैं। प्रथम घोड़ी 'सराहन' में निम्नलिखित प्रसिद्ध उपक्षेत्र हैं :–

1. पतशौ –इसमें सराहन का सब से बड़ा गांव है।
2. छै बीश—कीनू सब से प्रसिद्ध गांव है।
3. नौ बीश– मशनू प्रसिद्ध गांव है।
4. दो शौ –गौरा प्रसिद्ध गांव है।

द्वितीय भाग 'पन्द्रह बीश' घोड़ी में निम्नलिखित प्रसिद्ध गांव हैं :—

1. सरपारा.
2. कौवील.
3. जगोरी.
4. गाहन्वीं.
5. क्याओ.

यह घोड़ी सराहन के ठीक सामने सतलुज के उस पार है और यहां ऊंचे ऊंचे पर्वत-शिखर होने के कारण यहां की जनसंख्या बहुत बिरल है।

यद्यपि यह सारा परगना सांस्कृतिक दृष्टि से एक ही इकाई है तथापि सराहन के समीपस्थ ग्राम ही प्रस्तुत अध्ययन का आधार माने गए हैं। ये गांव हैं :–

1. सराहन.
2. रावीं.
3. कूलै.
4. धराली.
5. बधाल.
6. मझगांव.
7. रागौरी.

Scanned with CamScanner

प्रसिद्ध देवी-देवता

इस क्षेत्र में निम्नलिखित प्रसिद्ध ग्राम देवी–देवता हैं :–

1. सराहन

1. **भीमाकाली मन्दिर** :– लगभग 300 वर्ष पुराना माना जाता है। 'भीमा' नाम के महात्मा ने मन्दिर की स्थापना की थी। वर्तमान नए मन्दिर का निर्माण श्री वीरभद्र सिंह के दादा शमशेर सिंह ने किया। यह दुर्गा है। इसका वर्णन दुर्गा सप्तशती में भी मिलता है। इस क्षेत्र में देवी का बहुत प्रभाव है।

2. **लांकड़ा वीर**:–लांगुरा अथवा लांकुड़ा वीर का मन्दिर भीमाकाली के मंदिर के बाहर अलग है। प्राचीन समय में इस देवता को प्रसन्न करने के लिये नरबलि की प्रथा रही है, ऐसी किम्वदन्ती प्रचलित है। बकरे की बलि अब भी दी जाती है। समीप के गांवों के लोग कोई भी शुभ कार्य आरम्भ करने से पूर्व अपने गांव के समीप उस स्थान से देवता को बकरे की बलि चढ़ा देते हैं जहां से वीर का मन्दिर दृष्टिगोचर होता हो।

2. रावीं

जागा-पण्डित–इस गांव में मुख्यतया ब्राह्मण रहते हैं। इस क्षेत्र में पण्डितों का यह अन्तिम गांव है। गांव का मन्दिर जिसमें 'जागा' देवता का निवास माना जाता है प्रायः मूर्ति-रहित है। इस मन्दिर में एक प्राचीन पाण्डुलिपि रखी हुई है जिसे पवित्र माना जाता है। भाषा से यह पाण्डुलिपि 'शारदा' अथवा 'भट टाकरी' की प्रतीत होती है गांव में पण्डितों के सिवा लुहार, सुनार तथा राजपूत भी निवास करते हैं। देवता तथा निवासियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

3. क्लैं:– क्लैं में राजपूत व कोली (हरिजन) जातियों के लोग निवास करते हैं। इस गांव में 'नगालू' भी हैं। नगालू हरिजनों की एक उपजाति है जो बहुधा टोकरियां बनाने का धन्धा करती है। हरिजनों की संख्या इस गांव में अपेक्षाकृत अधिक है। गांव का देवता 'बण्डा' नाग है। बण्डा नाग अब क्षेत्र का प्रधान देवता हो गया है। पहले यह स्थान 'निणसू' देवता का माना जाता था। बण्डा नाग, एक किंवदन्ती के अनुसार अपने आठ भाइयों सहित सरपारा गांव के एक तालाव में उत्पन्न हुआ। कहा जाता है कि प्राचीन समय में 'जड़

देवता' शिवाजी का पहरेदार था। वह सरपारा गांव में एक तालाव में रहता था। इस जोहड़ में 9 कमल खिले। सुनू माई जो उसी गांव की एक स्त्री थी, एक बार इस जोहड़ पर गई। उसने आठ कमल तोड़ लिये पर नवां कमल परे परे खिसकता रहा और यहां तक कि वह पानी में डूब गई। मानो उसे किसी ने पकड़ लिया था। वह छः मास वहां रही और इस बीच देवता से हेल मेल हो गया। सुनू माई ने एक दिन देवता से प्रार्थना की कि उसे जाने दिया जाए। देवता ने उसे इस शर्त पर जाने की आज्ञा दे दी कि वह उसकी धरोहर को सुरक्षित रखेगी। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। वह वहां से निकल आई और 'नागा-जनी' नामक स्थान पर बैठ कर कपड़े उतार कर जूंए देखने लगी। उसने देखा कि 9 सांप उसके शरीर से चिपटे हुए हैं। उसके शरीर से नौ स्थानों से दूध निकलने लगा। वह नौ नागों की मां हो गई। उसने एक पिटारे में सब नागों को सम्भाल कर रख लिया और अपने घर चली गई। उसने उस पिटारे को संगाह (सीढ़ी) के नीचे रख दिया और छपा कर उन्हें दूध पिलाने लगी। वह जब गाय को दुहती थी तो आधा दूध सांपों के लिये रख लेती थी। एक दिन दूध कम होने के कारण उसकी मां को शक हो गया। उसने ढूंड कर पिटारा खोल लिया। सांपों को देख कर वह डर गई। उसने सांपों को समाप्त करने का निश्चय कर लिया। उसने लकड़ियां इकट्ठी कीं और पिटारा उन पर रख दिया पर वह आग लगाने से भी जला नहीं। इस घटना से सांप वहां से अनेक स्थानों में चले गए। उनमें से एक बण्डे का नाग देवता है। बण्डा गांव क्लैं गांव के पास ही है पहले यह उसी गांव का देवता था, इसीलिये इसे 'बण्डे वाला नाग देवता' कहा जाता है। बण्डे में रहता हुआ यह बछड़े का रूप धारण करके 'क्लैं' गांव की गायों का दूध पी जाता था। बाद में क्लैं वालों ने इसे अपना देवता मान कर गांव में मन्दिर बनवा दिया। उपरोक्त नौ नागों में से कुछ का विवरण इस प्रकार है:—

1. प्रथम नाग — बण्डे गांव में।
2. द्वितीय नाग– कौवील में।
3. तृतीय नाग– खरगा में।
4. चौथा नाग– सरगा में।
5. पांचवां नाग– सरपारे में।

Scanned with CamScanner

6. छठा नाग – महू नाग।

7. सातवां नाग– सापनी में।

दो नाग कहीं अन्य स्थानों पर चले गए।

सराहन क्षेत्र में किन्नर-क्षेत्र की भांति 'विष्णु' हरिजनों का देवता माना जाता है पर इसका रथ आदि नहीं होता। बलै नाग का मन्दिर तथा रथ है।

4. धराली तथा बधाल गांव :– किन्नर-क्षेत्रीय सीमा पर स्थित इन दोनों गांवों का एक ही देवता है। इस देवता का नाम निनसू (निणसू) है। यह 'पतशों' क्षेत्र का प्रधान देवता माना जाता है। यह देवता 'दत्तनगर' से आया हुआ माना जाता है। बीमारी दूर करने के लिये प्रसिद्ध है। इसके आठ चेहरे हैं। हिरमा देवी जो 'चौहरा' गांव की देवी है, कई बार इस गांव में आमन्त्रित की जाती है। यह विष्णु का रूप माना जाता है पर बलि लेता है। विष्णु इन गावों में भी हरिजनों का देवता माना जाता है। यहां गृह देवताओं में किमशू, (किम-घर,शू-देवता-किन्नर प्रभाव) महासू, बता (जिसकी गज (छड़ी) होती है), तथा वीर हैं। लंकड़ वीर को बलि दी जाती है। कटोलू इस क्षेत्र का ऐसा देवता है जो सतलुज नदी के किनारे निवास करता हुआ माना जाता है। यह घोड़े पर चलता है और कुपित होने पर जन, धन तथा फसलों की वहुत हानि करता है। इसे भी वलि दी जाती है।

निणनू देवता भी रात बारह वजे के पश्चात् घोड़े पर चलता हुआ माना जाताहै। इसका मन्दिर केवल धराली गांव में ही है और वहीं इसका मुख्यालय माना जाता है। कहा जाता है कि इस देवता ने चौरा में रहने वाले एक राक्षस 'समडार' को मारा था और पत्थर वना कर 'समडार देयोरी' में स्थापित किया था। यहां एक वड़ा पत्थर है जो धराली गांव के समीप है। इस पत्थर की पूजा विशेप अवसरों पर देवता भी करता है। विश्वास किया जाता है कि यह पत्थर सांप का सिर था। यहां दिन में बारह बजे जो भी व्यक्ति शोर करता है उसे भूत लग जाता है। कीनू गांव के एक व्यक्ति को जो मुर्गे को लेकर जा रहा था कई वर्ष पहले एक हाथ लम्बे सांप ने मुर्गे सहित इस स्थान पर मार दिया था यह अव से लगभग 15 वर्ष पूर्व की वात है। लोग इस देवता से वहुत डरते हैं। और इसे (निणसू को) प्रत्यक्ष तथा सच्चा देवता मानते हैं।

5. मझगांव तथा रागोरी :– इन दोनों गांवों का एक ही देवता लक्ष्मीनारायण है। रागोरी में 80 घर हैं जिनमें राजपूत व हरिजन (कोली) निवास करते हैं। राजपूत किस गोत्र के हैं इसका यद्यपि कोई निश्चय नहीं है तथापि उनके गोत्र वात्स्याय, काश्यप आदि हैं।

लांगुरा (लंकड़) वीर को प्रसन्न करने के लिये मेमना (हुल) की बलि दी जाती है। इसे प्रसन्न करने के लिये राजा शमशेर सिंह के समय में कभी नरबलि दी गई थी परन्तु उसके पश्चात् नरबलि की प्रथा बन्द हो गई है। जब गोरखे सराहन में आए थे तो रावीं से भीमाकाली के मन्दिर के लिये सुरंग निकाली गई थी। रागोरी गांव के मन्दिर में भी दरवाजों पर गोरखों के हथियारों द्वारा लगाए गए निशान शेष हैं।

'लक्ष्मी नारायण' सात भाई माने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक का विवरण यों है :–

1. कामरू का बद्रीनाथ
2. मझगांव
3. किन्नू
4. मझोली
5. काशापाट
6. जाबल नारायण रोहड़ू में
7. दरकाड़ी-बारह बीस में।

ये नारायण भगवान विष्णू के रूप माने जाते हैं परन्तु विष्णू जो बिना रथ के है, हरिजनों का देवता माना जाता है।

इन गांवों में निम्नलिखित गृह-देवता हैं :–

महासू, नजेरू (नजरों का देवता), किमशु– गाय बैल की रक्षा करने वाला देवता, काश्मीर-जाना, महासू के साथ 5 वीर जो गृहस्थियों की रक्षा करते हैं, इन्हें मेमने की बलि दी जाती है। बलिराज को पाताल भेजे जाने की प्रथा भी सम्भवतः इस क्षेत्र में रही होगी। उस दिन 'बढ़राणा' त्यौहार भी मनाया जाता है। राजा बलि देवता के रूप में नहीं माना जाता।

लक्ष्मी नारायण का रथ है जो अधिकतर समय में मझगांव में रहता है।

देवताओं का स्वर्गारोहण

इस क्षेत्र के सभी देवी-देवता माघ मास में निश्चित समय के अनुसार अगले वर्ष के लिये अपनी प्रजा के लिये धन-धान्य लाने हेतु कुछ दिनों के लिये स्वर्ग (इन्द्रपुरी) चले जाते हैं। देवता की अनुपस्थिति में गांव में उत्सव मनाना तथा हल आदि जोतना वर्जित होता है। देवता अपने साथ क्या लेकर आया है, इस सम्बन्ध में सब ग्राम वासियों को उत्सुकता रहती है। देवता के लौटने पर प्रायः शाम को विष्णु की कोठी (स्थापना) में महफिल लगती है। यह स्थापना किसी हरिजन के घर में होती है अतः वहीं जात्र (मालानृत्य) होती है जिसमें सारे गांव वाले प्रसन्तापूर्वक नाचते गाते हैं। माघ साजा (संक्रान्ति) के उपरान्त देवता स्वर्ग चले जाते हैं और कई गावों में ये

Scanned with CamScanner

15 दिन के पश्चात् लौट आते हैं तथा अन्य अनेक में महीना भर के पश्चात् लौटते हैं।

'मघनौण' का त्यौहार धराली तथा बधाल गांवों में देवता की पृथ्वी पर वापसी के रूप में मनाया जाता है। यह माघान्त का त्यौहार होता है। इस दिन मन्दिर में सब गांव वासी इकट्ठे हो जाते हैं। उस दिन दिन के समय ही माली (पुजारी) बताता है कि देवता अपने साथ क्या लाया हैं। देवता के मन्दिर के भीतर शिवलिंग पर देवता की विदाई के दिन किलो भर शुद्ध घी मल दिया जाता है। यदि इस घी को चूहा कहीं से खा जाये तो अपशकुन माना जाता है और यह विश्वास किया जाता है कि फसल वर्ष भर में अच्छी नहीं होगी और बीमारी आदि विपत्तियां आएंगी। यदि चूहा या अन्य कोई जीव घी को न छेड़े तो अच्छा शकुन माना जाता है। देवता की विदाई के दिन ही शिवलिंग पर घी लगा कर उस पर कतला (कपड़ों से चिपटने वाला घास जिसे निचले भागों में 'झिझड़ू' कहते हैं) लगा दिया जाता है तथा शिवलिंग को तामसू (पतीला) से ढक दिया जाता है ताकि चूहा आसानी से हानि न पहुंचा सके। खोलने पर घी सब बाल-वृद्धों में बांटा जाता है। इसे बहुत पवित्र माना जाता है। यदि शिवलिंग अथवा देवता की मूर्ति में जौ, कनक, धान आदि लगे हों तो शुभ शकुन परन्तु यदि कोयला हड्डी, पत्थर आदि लगे हों तो अपशकुन माना जाता है। देवता अपने पुजारी (माली) के द्वारा लोगों से बात करता है जब माली पर शक्ति आती है तो वह बहुत ऊंचे बोलना आरम्भ करता है। उसकी भाषा भी भिन्न हो सकती है।

सराहन-क्षेत्र के त्यौहार एवम् उत्सव

इस क्षेत्र के त्यौहार व उत्सव अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इनसे क्षेत्र की प्राचीन संस्कृत की झलक मिलती है क्योंकि लोक देवी/देवताओं का प्रभाव इस क्षेत्र के जन मानस पर अत्याधिक है अत: परम्पराओं में परिवंतन सहज सुलभ नहीं रहा है। यही कारण है कि अति प्राचीन काल से प्रचलित उत्सव यहां आज के युग में भी देखे जा सकते हैं। इन त्यौहारों का अध्ययन प्रत्येक गांव में प्रचलित प्रथाओं के आधार पर अधिक अच्छी तरह से किया जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत सर्वेक्षण में इनके आधार को खोजने की ही अधिक कोशिश की गई है। मुख्य त्यौहार निम्नलिखित हैं :–

1. चैत .. नवरात्रा।

2. वैशाख .. बीशू बिरसू, बिरशू– देवी देवताओं को सजाया जाता है। नृत्य गायन होता है।

3. बण्डे का मेला बारी जात्र .. महासू देवता का पूजन किया जाता है। सांयकाल महासू देवता का मेला लगता है। इस दिन देवता को बलि दी जाती है। 12, 13 बैशाख को देवताओं को नचाया जाता है। दुकान दार दुकानें भी लगाते हैं।

4. कीनू की बिरशी जेठ 3, 4 को

5. सरागमेला:—गोपालपुर (गौरा) में होता है। सराग स्थान का नाम है। बसाहरू तथा रूसो का देवता काजड़ भी आते हैं। यह मेला 21, 22 बैशाख को होता है। इससे पूर्व मंझयोली में एक मेला (जात्र) होता है जिसमें बसाहरू और मंझयोली वाले देवता (लक्ष्मी नारायण) आते हैं।

6. रागोरी मेला— (सावण जात्र) यह 9, 10 सावन को मनाया जाता है। नाच होता है। मझगांव के दो देवता लक्ष्मी नारायण तथा पता नारायण निकाले जाते हैं।

7. क्लै मेला– भादो में होता है। इसमें बंडा नाग, धराली निणसू देवता आते हैं। यह तिथ्यनुसार सावन या भादो में होता है।

8. दसमी— सराहन में तिथि के अनुसार दशमी से आरम्भ होकर त्रयोदशी तक चलता है। इसमें प्राचीन काल में 40 के लगभग देवता आते थे परन्तु अब सात आठ आते हैं। इनमें प्रमुख हैं—लक्ष्मी-नारायण (मझगांव), बण्डानाग, धराली निनसू, त्यौल की देवी (स्यासनू) जिसे बुशहर के राजाओं की कुलदेवी कहा जाता है क्योंकि प्राचीनकाल में वे त्यौल में निवास करने वाले बताए जाते हैं। सरगा, खरगा (दोनों नाग कुल्लू क्षेत्र के हैं), काली डमोली की देवी (कुल्लू क्षेत्र), कीनू गांव का देवता तथा बसाहरू देवता। बसाहरू देवता यदि न बुलाया जाए तो यह माना जाता है कि वह वर्षा करवा देता है। कुछ वर्ष पहले तक सुंगरा महेश्वर भी आता था पर अब नहीं आता है।

प्रथम दिवस— रथ यात्रा सांयकाल। रघुनाथ जी की मूर्ति रथ में डाल कर निकाली जाती है। रथ के साथ दो घोड़े होते हैं। रथ को आदमी रस्से से खींचते हैं। हर व्यक्ति

रस्से को खींचना चाहता है । विश्वास किया जाता है कि दो घोड़ों में से एक घोड़ा भीमाकाली तथा दूसरा घोड़ा लांगुरा (लंकड़) वीर का होता है । दोनों घोड़े एक जैसे सजाये गए होते हैं और उन्हें शराब भी पिलाई गई होती है । घोड़े रथ को नहीं खींचते । उनके साथ साइस होते हैं । दोनों घोड़े बराबर चलते हैं और गहनों से सुसज्जित होते हैं । रथ भीमाकाली के मन्दिर के पीछे से चल कर रघुनाथ जी के मन्दिर के साथ चलता है । रघुनाथ जी की मूर्ति भीमाकाली के मन्दिर में है परन्तु इस अलग मन्दिर में रघुनाथ जी का अस्थायी निवास है । रथ यात्रा के पश्चात् मिष्ठान बांटा जाता है । देवताओं की पालकियां इकट्ठी आगे बढ़ती हैं और उनका यह क्रम रहता है— घराली निनसू, वण्डा नाग, मझगांव का देवता, किनू नारायण तथा वसहरू देवता इकट्ठे चलते हैं । रथयात्रा में बाजे गाजे, कीर्तन-मण्डलियां होती हैं । यदि बुशहर के राजा यहां हों तो वे रथयात्रा में आना आवश्यक समझते हैं नहीं तो उनके कर्मचारी आते हैं । हनुमान मनुष्य के रूप में रथयात्रा के साथ चलता है ।

दूसरा दिन— दूसरे दिन प्रातः भीमाकाली के मन्दिर से देवताओं की रथयात्रा रघुनाथ के मन्दिर तक जाती है । वहीं नृत्य, गायन का कार्यक्रम होता है ।

तीसरा दिन— मेला लगता है ।

चौथा दिन— दिन भर मेला होता है । सायंकाल लंका-दहन होता है । हनुमान लंकारूपी घड़े को जो पत्थर पर उल्टा रखा होता है, सब से पहले पत्थर मारते हैं उसके पश्चात् लोग बन्दूक से घड़ा तोड़ते हैं । घड़े के टुकड़े श्रद्धालू लोग घर ले जाते हैं , यह समझा जाता है कि इन कंकड़ियों के होने से घर में बीमारी आदि नहीं होती । घड़ा तोड़ने के पश्चात् रथयात्रा वापिस जाती है । देवता अपने गांवों को लौटते हैं । इन क्षेत्र में रामलीला अन्य क्षेत्रों की भांति विजय

दशमी तक ही होती है । परन्तु दशहरा विजय दशमी से आरम्भ होता है ।

1. देयावड़ी— यह दीपावली के लगभग एक मास बाद मनाई जाती है । दीपावली (दीपमाला) को विशेष रूप से मनाया जाना यहां प्रथा के रूप में प्रचलित नहीं है परन्तु नवयुवक पुराने किल्टों आदि को जलाते हैं और उन दिनों तीन दिनों तक प्रकाश करते हैं । देयावड़ी के एक दिन पहले पोल्टू बनाये जाते हैं । उस रात को रई या कायल का एक पौधा लाया जाता है और उसे सारे गांव वाले एक स्थान पर गाड़ देते हैं । इसके चारों ओर सूखी टहनियां लगा दी जाती हैं और उसमें आग लगा दी जाती है । इसे अपनी भाषा में 'बढराणा' कहते हैं । इसका अर्थ 'बहुत बड़ी आग' होता है । अब से कुछ समय पूर्व इस अवसर पर अश्लील शब्द कहने की प्रथा थी पर अब यह धीरे धीरे समाप्त हो रही है । ये अश्लील शब्द अधिकतर सास बहू के सम्बन्धों के विषय में होते थे । इस अवसर पर वीरता दिखाने के लिये कई व्यक्ति आग में कूद कर कायल या देवदार की टहनी को पकड़ कर लाते हैं । सावणी देवियां जिन्हें योगिनी अथवा काली देवियां भी कहा जाता है इन मेलों में आती हैं, सम्भवतः उन्हें भगाने के लिये ही ये अश्लील शब्द कहे जाते हैं । मेला (नृत्य, गायन) होता है ।

10. दीवाल— यह भी देयावडी की तरह ही मनाया जाता है । रावीं गांव में इस अवसर पर 'काव' की कथा गाई जाती है । इस कथा के अट्ठाहर अध्याय हैं जिनमें से तीन अध्याय दीपावली के अवसर पर गाये जाते हैं और शेष 15 अध्याय दीवाल के दिन गाये जाते हैं । यह राजा बलि की कथा है ।

11. पन्द्रह माघ— इसे पवित्र दिन माना जाता है । लोग नहाते धोते हैं । रात को मेला लगता है ।

12. फाग.. 'फाग' का मुख्य त्यौहार रामपुर शहर में होता है । इधर इसका बड़ा उत्सव मनाने का प्रचलन नहीं है । परन्तु फुआल लोग इस दिन एक वृक्ष जिसे 'यारटा' कहते

tharahkardu.in
Scanned with CamScanner

हैं, के पत्तों को लाकर गांव से थोड़ी दूर रास्ते में रख लेते हैं उनमें पालतू पशुओं के मालिकों की परीक्षा होती है । जो पशु रास्ते के बीच रखी हुई टहनी के ऊपर से गुजरता है उसके मालिक के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वह फुआलों को कम रोटी देता है और उससे दण्डस्वरूप एक रोटी वसूल की जाती है । चार से दस वर्ष तक की आयु के बच्चे 'फाग मोले फागुइए' कहते हुए घर घर में जा कर मूड़ी मांगते हैं ।

13. लोहड़ी का साजा.. लोहड़ी फाग से पहले आती है पर यह विशेष त्यौहार नहीं है । पोल्टू बनाने की प्रथा है ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि काव की कथा दत्त नगर, रावीं, बसाहरा, निरमण्ड, नीरथ आदि ब्राह्मणों के गांवों में गाई जाती है । सराहन क्षेत्र में यह दिन के समय गाई जाती है परन्तु बाकी क्षेत्रों में इसे रात को भी गाया जाता है । इस दिन राजा वलि की एक आटे की मूर्ति जमीन पर बनाई जाती है । इसमें बलि को लिटाया हुआ दिखाया जाता है । इन आकृति पर दीपक जलाया जाता है । यह विश्वास किया जाता है कि बलि का बध दीवाल के दिन हुआ था । इस आकृति पर बाद में कील ठोंक दिया जाता है । रावीं गांव के श्री शिवराम भारद्वाज के पास बुशहर के राजाओं की वंशावली है ।

रागोरी गांव के श्री कृष्णदास नेगी, आयु 62 वर्ष ने बताया कि इस क्षेत्र के चार मुख्य पर्व हैं—1. बीशू, 2. दखनौड़ी, 3. दियावड़ी तथा 4. माघ साजा । शिवरात्रि भी इस क्षेत्र में प्रधान त्यौहारों में से एक है। इस क्षेत्र के विश्वासों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त मनुष्य 'वैहलणू' (किन्नर-कैलाश के साथ की चोटी जिसे किन्नर-विश्वासों के अनुसार 'रल्डङ्' कहा जाता है) में चला जाता है । यह चोटी इन गांवों के ऊपर से स्पष्ट दिखाई देती है ।

14. शिवरात्रि.. देयावड़ी चतुर्दशी तिथि को मनाई जाती है । शिवरात्रि फागुन मास की चतुर्दशी को कृष्णपक्ष में होती है । इस दिन पकवान वनाए जाते हैं । अन्य कई प्रकार का भोजन तैयार किया जाता तथा शिवलिंग वनाए जाते हैं । शिवलिंग पाजा, आस और बीच जौ की पत्तियां, कैमटू का लाल दाना जो झम्बीरी की तरह का होता है, शारशा फूल, बेल पातरी आदि से बनाते हैं । कई घरों में यह वड़ा तथा कइयों में छोटा होता है ।

पकवान आदि उसके सामने चढ़ाए जाते हैं । उसके सामने दीपक जलाए जाते हैं । आरती के समय उसका पूजन किया जाता है । उसे बकरे की बलि दिए जाने की भी प्रथा है । भोजन उस दिन पूजा करने के पश्चात् ही किया जाता है । कई घरों में चार तक लिंग भी इकट्ठे करके रखे जाते हैं ।

इस क्षेत्र में त्यौहार-उत्सवों की दिशा में मनोरंजक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है । धराली गांव के श्री दुर्गानन्द, आयु-30 वर्ष शिक्षा-पांचवीं कक्षा से भी इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की गई । बघाल व धराली सराहन से किन्नर-क्षेत्र की ओर स्थित होने के कारण किन्नर-क्षेत्रीय संस्कारों के अधिक समीप हो सकते हैं अतः यह अध्ययन रुचिकर रह सकता है । इन गांवों में खौश=खश, कुणन=कुनैत, कोली (हरिजन) तथा गूजर निवास करते हैं । गूजरों की भाषा अलग है और वे भैंसें पालकर दूध बेंचते हैं । इस क्षेत्र के मुख्य त्यौहार हैं—

1. बिरशू.. बैशाखी के 1, 2 गते । पशुओं, फसलों व मनुष्यों की आकृतियां घरों के अन्दर दीवारों पर बनाई जाती है । यह वर्ष भर की सुख समृद्धि के लिये किया जाता है । शाम को पोल्टू तथा सवेरे चावल व मीट वनाया जाता है । मन्दिर के कारदार भी पूरे वर्ष के पश्चात् इसी दिन बदलते हैं ।

2. जठागरा.. यह जेठ मास में होता है । उस समय देवता निकाले जाते हैं । बलि दी जाती है । प्रथम गते या 15 गते को तिथि देखकर मेला लगता है ।

3. दखरेंणी.. आषाढ़ में होता है । घरों की सफाई होती है । पोल्टू बनाते हैं । उस समय देवता नहीं निकालते हैं । मन्दिर में सारे गांव वालों को भोजन दिया जाता है ।

4. दशहरा.. असौज या कार्तिक में सराहन में दशहरा के अवसर पर देवता ले जाया जाता है । देवता के साथ हर घर से एक व्यक्ति जाता है । खर्च देवता की ओर से नहीं होता है ।

5. दिवाली.. कार्तिक में । घर की सफाई की जाती है । दीए जलाए जाते हैं । फूल की माला बनाते हैं । चूल्ही के तेल का दीया जलाया जाता है ।

Scanned with CamScanner

6. देयावड़ी . . दीवाली के एक मास के पश्चात् । मन्दिर में पुराने किल्टे जलाए जाते हैं । मन्दिर व घर में भोग बताया जाता है । उस समय एक दूसरे को अश्लील शब्द कहे जाते हैं । आपस में एक दूसरे को गाली देना बुरा नहीं माना जाता । सावणियों को भगाने के लिये ऐसा किया जाता है । रात को नृत्य-गायन का कार्यक्रम चलता है ।

7. माघमाज़ा . . एक गते को माघ साजा । घर में सफाई व पोल्टू । देवता इस दिन इन्द्रलोक को जाता है । अगली संक्रांति को वापिस आता है । देवता के लौटने पर माली (पुजारी) सब ब्यौरा सुनाता है ।

8. स्त्रैणा — माघ के सात गते को। यह एक छोटा त्यौहार है । शाम को रोटी खा कर सो जाते हैं । 7 को प्रातः चार बजे उठ कर पोल्टू बना लेते हैं । पड़ौसियों व रिश्तेदारों को देते हैं । शराब पीते हैं। मेला नहीं लगता । धूप (पाजा) जलाया जाता है।

9. 15 माघ .. पोल्टू सवेरे उठकर बनाते है। सवेरे कव्वा बोलने से पूर्व (ब्राह्ममुहूर्त में) पाजा (एक प्रकार का धूप) जलाया जाता है । इस धूप के हरे पत्ते होते है जिन्हें जलाया जाता है । इस धूप को माली (पुजारी) हर समय जलाता है । इस पर चैरी की कलम की जा सकती है ।

10. मघनौण .. माघान्त । इस दिन देवता पृथ्वी पर वापिस आता है । देवता की विदाई पर शिवलिंग में घी मलने की प्रथा है । इसी से शकुन, अपशकुन का विचार किया जाता है । इस प्रथा का वर्णन पहले किया जा चुका है ।

11. शिवरात्रि — फागुन में । इस दिन से एक सप्ताह पूर्व शकड़ी (पापड़) बनाते हैं । ये चावल और मैदे के बनते हैं । इन से पूर्व माश के वड़े (बड़ियां) बनाए जाते हैं । मीट पोल्टू आदि बनाने की प्रथा भी है । लोग व्रत भी करते हैं । रात को कोई नहीं सोता । सब लोग नाचते रहते हैं । घर घर में मिट्टी का शिवलिंग बना कर बाहर

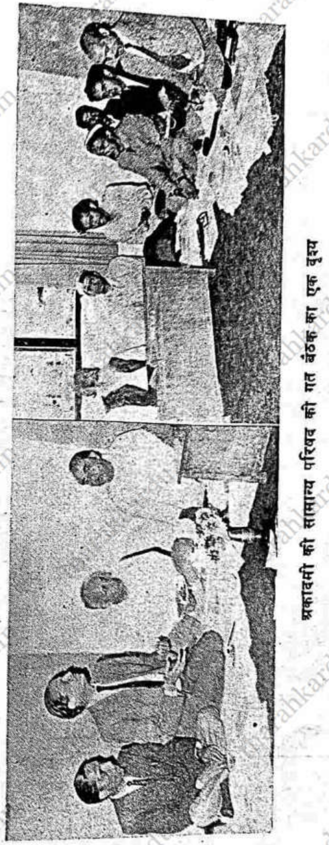

अकादमी की सामान्य परिषद की गत बैठक का एक दृश्य

"लकड़ी के मुखौटे पहने लोक-कलाकार"
(छाया—ओम चन्द हाण्डा)

लाल कपड़ा बान्ध दिया जाता है। इसे धूप टीका लगा कर घर के बीच 'मण्डल' जिसके नीचे चावल लगाते हैं, के ऊपर रख देते हैं। शकड़ी, पोल्टू, गरी आदि चढ़ा देते हैं। दूसरे दिन इन्हें बांट कर खाया जाता है। दीपक बुझने नहीं दिया जाता। शिवलिंग को अगले प्रात: कौवा बोलने से पूर्व (ब्राह्ममुहूर्त में) बावड़ी पर अथवा खेतों में रख दिया जाता है और सवेरे से पूर्व वापिस आ जाते हैं।

हरिजनों व बढ़ई के घर 'बैठा महादेव' पूजा जाता है। यह 'मण्डल' पर शिवलिंग रखा हुआ होता है। उसे बलि दी जाती है। जो इन घरों में जाते हैं उन्हें मोड़ी (भुना हुआ अनाज) दी जाती है। राजपूत तथा अन्य सवर्ण 'बैठा महादेव' पर पैसे चढ़ाते हैं।

12· फाग .. फाग विशेष त्योहार नहीं है। केवल पोल्टू बनाए जाते हैं। रंगों से खेलने की भी प्रथा नहीं है।

इस क्षेत्र के लोकगीत व लोककथायें, विवाह आदि संस्कार, भाषा के प्रकार तथा गिनती आदि का ढंग सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं परन्तु विस्तारभय से इन सब पर चर्चा करना सम्भव नहीं है। अत: निम्नलिखित गद्यांश का रागोरी गांव की उपभाषा में अनुवाद करके लेख को समाप्त करना ही उपयुक्त प्रतीत होता है:—

गद्यांश: एक मनुष्य के तीन पुत्र थे। मंझला पुत्र सुस्त और निकम्मा था। उसका परिवार बड़ा था। उसके तीन लड़कियां थीं। उनमें से एक कानी थी। कानी लड़की की उंगली में कांटा चुभ गया। वह चुपके से रोने लगी। पिता ने उसे कहा—"रोती क्यों हो?" लड़की ने बताया—"मुझे कुत्ते ने काटा है और मेरा पांव सूज गया है।" सब को बड़ी चिन्ता हुई। तब उसने सब कहा।

अनुवाद .. एकी आदमिये त्रोन छोटू तै। मजका छोटू सुस्त और नालायक तो। तेउओ टौबर बड़ा तो। तेउए त्रोन छोटी ती। तिनां मांजिया एक काणे ते काणी छोटी गुटी दी कांडो चुभो। सौ चुटा चाड़ी रोन्दे लागे। बावे तियां ले बोलो—"किले रोयें?" छोटिये बोलो—"मूं कुकरै

(शेष पृष्ठ 105 पर)

पहाड़ी कविता

उच्चियां डीलां

—मनसाराम शर्मा 'अरुण'

प्रकृतिया रा बखान

1. सूरज चमक्या धरती न्हाई,
डाले लिसके चार-कनारे ।
बाटां बिच बिखरीग्या स्यूना,
हस्सी हरयाली प्हाड़ें सारें ॥1-1॥

2. व्यासां रे मोड़ां पर बजदे,
ठंड-ठंडे छिट्टे थे ।
उठदी जांदी डील सनहरी
घूरनू फिरदे चिट्टे थे ॥1—2॥

3. गासा ते धरती पर रुढ़ियां,
किरणां लमियां चमक्या चांदी ।
जिह्यां उतरी नार-नवेली,
सजी-धजी ने पैलां पांदी ॥1—3॥

4. डाले देखी ने हसदे थे,
पंखी कल-कल करदे थे ।
घण्यां बणार्यां ड्वारां जो स्यो
गीतां कन्ने भरदे थे ॥1—4॥

अनुवाद—

ऊर्ध्वमुखी तरंगे

प्रकृति का वर्णन

1. सूर्य गगन में चमक उठा था,
किया भूमि ने स्वर्णिम स्नान[1] ।
पथ पर बिखर गया था सोना,
उदित हुआ था नवल विहान[2] ॥1—1॥

2. पर्वत हरियाली में डूबे,
कल-कल बहती व्यासा-धारा ।
तरल-तरंगों की गोदी में,
झूम रहा था जंगल सारा ॥1—2॥

3. गिरी गगन से धरती पर थीं,
रजतपटी[3] में लिपटी बाहें ।
भावों से उर्मिल[4] दिल में ज्यों,
निकल रही हों धीमी आहें ॥1—3॥

4. शाखाओं पर खिली हंसियां,
विहग कूजते थे चुप-चाप ।
सघन वनों के गहन कुंज[5] में,
बिखरी गीतों की पद-चाप[6] ॥1—4॥

---

1. स्वर्णिम-स्नान-सुनहरी, सूर्य की सुनहरी किरणें जब भूमि पर बिछ गईं तो ऐसा प्रतीत होता था कि उसने स्नान कर लिया हो ।
2. विहान-प्रभात, नया सबेरा ही मानों निकल आया हो ।
3. रजतपटी=शुभ वस्त्र, पर्वत शृंङ्गों पर हिम की शुभ्रता भी फैली हुई थी ।
4. उर्मिल=तरङ्गों से भरे हुए ।
5. गहन कुंज-लताओं के झुरमुट ।
6. पदचाप=पैरों का धीमा शब्द ।

Scanned with CamScanner

5. टोल्हां पर ठुठकी ने छिट्टे,
व्यासा हसदी नचदी थी ।
आर्यावर्त त्रिगर्ता रे सँह,
नयां जुगां जो रचदी थी ॥1—5॥

6. छल्ल-छलांदी छाली उट्ठी,
लगदा व्यासा लगी गलाणे ।
डालां पर बैठीरे पंछी,
लगी पए हुण गाणा गाणे ॥1—6॥

* * * * *

देखना तकरीर की लज्ज़त कि उसने जो कहा ।
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है ॥

—मिर्ज़ा ग़ालिब ।

5. शुभ्र शिला पर बिन्दु छिटकता,
सौम्य[1] सुहास बिखरता था ।
आर्यावर्त-त्रिगर्त भूमि पर,
नवयुग रूप निखरता था ॥1—5॥

6. (अ) व्यासा की धारा में उछली,
हासों[2] की शुभ नवल हिलोर ।
प्राची पर सिन्दूर सजा था,
जाग पड़ा ज्यों स्वर्णिम[3] भोर ॥1—6॥

7. (ब) तरुओं के झुरमुट में चहकी,
बहके विहगों की वह तान ।
लगी कान में सुधा टपकने,
फूलों पर फैले नव-गान ॥1—7॥

1. सौम्य-सुन्दर, दिल छू लेने वाला ।
2. हासों की-मन की खुशियों की ।
3. स्वर्णिम भोर-सुनहरा सबेरा ।

* * *

(पृष्ठ 101 का शेष)

खाये और मेरे रौड श्वाणे ।" सबे फिकरीं दी हुई । दुई तियें सच बोला ।

इस क्षेत्र में गिनती बीस तक ही कही जाती है, यथा—

एक, दो, त्रीन, चार, पांज, छौ, सत्त, अट्ठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, टेरा, चौदा, पन्दरा, सोला, सतरा, ठारा, डी, बी तथा बी-एक, बी-दी बी-त्रोन, इत्यादि ।

पहाड़ी कविता

चालदे ही रहणा

—सी0 आर0 बी0 ललित

पाथरो पहाड़ो मांझे चालदे ही रहणा।
झाड़ां ओ झखाड़ो मांझ चालदे ही रहणा।।

तारे चांदे सुरजे ना चाल छोड़े आपणे।
एकी दुजे साथ भी ना ताल जोड़े आपणे।।

दुनिया रे गाड़े हामो छोड़ो चाहे पाकड़ो।
नएटो ओ गाड़ो मांझे चालदे ही रहणा।।

हिउ भरी टीरो म्हारे चाल रोके सको ना।
शीत म्हारे मनो-रा उबाल रोके सको ना।।

फूल चाहे कांडे विछे हल म्हारी बाटो वे।
म्हारे बांशो ताड़ो मांझे चालदे ही रहणा।।

रेत रेगिस्थानी ओ समुंदरो री लहरो।
देखे एकी घड़ी भी ना पग म्हारे ठहरो।।

ग्यारठे रे ढेर चाहे आंधी ओ तूफान ओ।
छालो री पछाड़ो मांझे चालदे ही रहणा।।

हिन्दी अनुवाद

चलते ही रहना

पत्थरों, पहाड़ों के मध्य चलते ही रहना है।
झाड़ियों और झंखाड़ों के मध्य चलते ही रहना है।

तारों, चान्द और सूरज ने अपनी चाल नहीं छोड़ी।
एक दूसरे के साथ भी अपनी ताल नहीं जोड़ी।

दुनिया की गाड़ी हमें छोड़े चाहे पकड़े।
(परन्तु) नदियों और नालों में (हमें) चलते ही रहना है।

हिमाच्छादित पर्वत-शृंखलायें हमारी चाल नहीं रोक सकतीं।
सर्दी हमारे मन के उबाल (जोश) को नहीं रोक सकती।

हमारे मार्ग में चाहे फूल बिछे हों या कांटे।
हमने बांस–ताड़ के मध्य चलते ही रहना है।

रेत, रेगिस्तान और समद्र की लहरें, देख कर (भी) एक घड़ी हमारे पग नहीं ठहरेंगे।

अंगारों के ढेर हों चाहे तूफान हों, (हम तो) पानी की बौछाड़ों के बीच (भी) चलते ही रहना है।

Scanned with CamScanner

हि०क०सं०भा० अकादमी का परिचय एवम् गतिविधियां

प्रदेश में कला, संस्कृति एवम् भाषा-साहित्य सम्बन्धी कार्यों को गति प्रदान करने तथा संरक्षण हेतु पग उठाने के लिये हिमाचल प्रदेश सरकार ने हिमाचल कला-संस्कृति एवम् भाषा अकादमी का गठन किया। इसका विधिवत उद्घाटन डा0 यशवन्त सिंह परमार, मुख्य मन्त्री, हिमाचल प्रदेश ने 2 अक्तूबर, 1972 को हिमाचल भवन में किया। उद्घाटनावसर पर एक कवि सम्मेलन, लेखक गोष्ठी, सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा चित्र प्रदर्शनी का आयोजन हुआ।

अकादमी का कार्यक्षेत्र विस्तृत है और इसके संविधान के अनुसार इसकी गतिविधियों का निर्धारण निम्नलिखित तीन इकाइयां (Organs) करती हैं—

1. सामान्य परिषद्।
2. अधिशासी निकाय।
3. वित्त समिति।

अकादमी के उद्देश्यों में प्रमुख ये हैं—

1. कला, भाषाओं (हिन्दी, संस्कृत, पहाड़ी एवम् उर्दू) तथा संस्कृति के क्षेत्रों में अध्ययन एवम् अनुसन्धान को प्रोत्साहन देना।
2. प्रदेश के साहित्यकारों/कलाकारों के बीच संस्थाओं एवम् वैयक्तिक माध्यम से सहयोग उत्पन्न करना।
3. सांस्कृतिक एवम् कला-साहित्य-सम्बन्धी संस्थाओं को प्रोत्साहित करना।
4. पहाड़ी भाषा में अथवा पहाड़ी भाषा से अन्य भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का अनुवाद करना अथवा करवाना।
5. प्रदेश के लोक-साहित्य का संकलन व पोषण।
6. प्रदेश के साहित्यकारों/कलाकारों को पुस्तक प्रकाशनार्थ सहायतानुदान देना तथा पर्वतीय संस्कृति की उन्नति की दिशा में कलाओं, यथा संगीत, नृत्य, नाटक, पुराणकथाओं (Mythology) आदि विषयों पर सन्दर्भ-ग्रन्थ प्रकाशित करना।
7. ऊपरोक्त विषयों पर दुर्लभ पाण्डुलिपियों को संकलित, सम्पादित, अनूदित अथवा मूलरूप से प्रकाशित करना।

8. सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समारोहों का आयोजन तथा लेखक/कवि/कलाकारों को सम्मानित करना, इत्यादि।

अकादमी के मुख्य संरक्षक प्रदेश के मुख्य मन्त्री, डा0 वाई0 एस0 परमार हैं तथा अध्यक्ष वन, भाषा, कला एवम् संस्कृति मन्त्री श्री लाल चन्द प्रार्थी हैं। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा0 आर0 के0 सिंह अकादमी के वर्तमान उपाध्यक्ष हैं।

अकादमी द्वारा निम्नलिखित योजनाओं पर कार्य किया जा रहा है:—

१. प्रकाशन

राम चरित मानस चतुःशती के अवसर पर प्रदेश के विभिन्न जनपदों में प्रचलित रामकथा के स्वरूपों पर एक ग्रन्थ 'पहाड़ी लोक रामायण' का प्रकाशन किया गया जिसमें रामचरित मानस के कुछ भागों का पहाड़ी भाषा में अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ का मूल्य मात्र बारह रुपये रखा गया है। इसकी पृष्ठ संख्या 257 है।

अकादमी द्वारा पहाड़ी, उर्दू, संस्कृत एवम् हिन्दी काव्य-संकलन प्रकाशित किये जाने की दिशा में कार्य किया जा रहा है तथा प्रदेश की लोक कथाओं, लोकगीतों, ललितकलाओं के विषयों पर ग्रन्थ तथा क्षेत्र विशेष पर मोनोग्राफ प्रस्तुत किये जाने के अतिरिक्त 'हिमाचल प्रदेश की आदिम जातियां: इतिहास एवम् परम्परायें' पुस्तक प्रकाशित करने पर कार्य हो रहा है। महाकवि भास के नाटकों का संस्कृत से पहाड़ी में अनुवाद करने की योजना भी प्रगति पर है।

इसके अतिरिक्त 'लोक नृत्य तथा संगीत' का एक संस्थान स्थापित किए जाने की दिशा में भी स्वीकृत योजनानुसार पग उठाए जा रहे हैं। अकादमी स्वीकृत योजना के अनुसार प्रदेश के प्राचीन वाद्य-यन्त्रों का एक संग्रहालय भी स्थापित करेगी।

२. छात्रवृत्तियां

सामान्य परिषद् ने अपनी गत बैठक दिनांक 26 जुलाई, 1974 में अकादमी द्वारा निम्निलिखित छात्रवृत्तियां दी जाने सम्बन्धी योजनायें स्वीकृत की हैं:—

1. नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, दिल्ली	एक छात्रवृत्ति 250/– प्रति मास।
2. नेशनल स्कूल आफ डिजाइन, अहमदाबाद	एक छात्रवृत्ति 250/– प्रति मास।

Scanned with CamScanner

3. नेशनल फिल्म इन्स्टीट्यूट, पूना — एक छात्रवृत्ति 250/- प्रति मास ।

4. पहाड़ी भाषा/संस्कृति पर पी0 ऐच–डी0 डिग्री के लिये शोध-कार्य हेतु — एक छात्रवृत्ति 300/- प्रति मास ।

३. पुस्तक-उद्योग

प्रदेश के साहित्यकारों को हस्तलेखों के प्रकाशनार्थ सहायतानुदान दिया जाता है । गत वर्ष इस योजना के अन्तर्गत 4,200/-रुपये की राशि तथा इस वर्ष 10,300/- रुपये की राशि साहित्यकारों को दी जानी स्वीकृत हुई है । यह अनुदान हस्तलेख के अकादमी कार्यालय में प्रार्थनापत्र सहित प्राप्त होने पर पुस्तक मूल्याङ्कन उपसमिति द्वारा अनुमोदित किया जाता है । इसके उपरान्त अधिशासी निकाय द्वारा इस पर विचार किया जाता है तथा सामान्य परिषद् इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय लेती है ।

प्रदेश में कार्यरत मान्यताप्राप्त संस्कृति एवम् कला सम्बन्धी संस्थाओं को सहायता-नुदान दिए जाने की दिशा में भी कार्य हुआ है और इस योजना के अन्तर्गत भी अनुदान दिया जाता है ।

प्रदेश के अनुसन्धित्सुओं तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थों के लेखकों को 'अग्रिम खरीद' योजना के अन्तर्गत सहायता दिए जाने की योजना भी स्वीकृत हो चुकी है । इस योजना के अन्तर्गत 2,500/-रुपये के मूल्य की पुस्तकें अकादमी द्वारा खरीदी जाती हैं ।

मूल्यवान ग्रन्थों का प्रकाशन अकादमी द्वारा अपने हाथ लिये जाने की योजना तथा इसके अन्तर्गत लेखकों को रायल्टी दिया जाना भी निश्चित हो चुका है । इस योजना से प्रदेश के साहित्यकार प्रकाशकों के लिये दौड़ भाग से बच जायेंगे और स्तरीय पुस्तकों का प्रकाशन सम्भव हो सकेगा ।

अकादमी द्वारा साहित्यिक समारोहों का आयोजन

अकादमी के उद्घाटनावसर पर दो अक्तूबर, 1972 को एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया । यह दिवस अकादमी के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायेगा । प्रदेश के हर साहित्यकार/कला-प्रेमी के मन में यह दिन एक नई उमंग ले कर आया और उस दिन यह आशा बन्धी कि हमारी संस्कृति तथा कलाओं एवम् भाषा-साहित्य के क्षेत्र में उदासीनता का युग समाप्त हो गया है और एक नये अध्याय का उन्मेष हुआ है । इस अवसर पर मुख्य अतिथि डा0 परमार ने सुन्दर शब्दों में कहा था —

'किसी भी देश की संस्कृति, कला और भाषा का जीवित होना परम आवश्यक है । हमारे स्वतन्त्रता संग्रामियों ने इन बातों का बीड़ा उठाया था परन्तु उनकी भावनायें कुचल दी गई थीं । अब वह समय आ गया है कि हम इस की ओर बढ़ें और कार्य करें । अकादमी और उसकी शाखाओं द्वारा इस पर कार्य होगा । . . . हिमाचलियों न अपना खाना नहीं छोड़ा, अपना पीना नहीं छोड़ा । यहां संस्कृति अपने मूल रूप में सुरक्षित है । अपने मेहमान को देवता के समान पूजना हमारी संस्कृति का उज्ज्वल उदाहरण है जो आज भी लाहौल में अपना एक ही नमूना पेश करता है ।"छांग" इस का उदाहरण है । . . . . हिन्दुस्तान में तो क्या सारे एशिया में यहां की कला का उदाहरण नहीं मिलता । . . . . . प्रदेश की संस्कृति, भाषा और कला को बचाना आप लेखकों का काम है ।'

इस अवसर पर श्री लालचन्द प्रार्थी, वन-मन्त्री, हिमाचल प्रदेश जो स्वयं कलाकार, कवि तथा लेखक होने के साथ ही प्रदेश के भाषा एवम् संस्कृति मन्त्री हैं, ने आशा व्यक्त की—

'हमारे प्रदेश में चारों ओर हस्तलिखित ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों का खजाना भरा पड़ा है । दूसरी ओर साहित्यकारों की अपनी उड़ान होती है, विचारधारा होती है तथा विचार–स्वतन्त्रता होती है । संस्कृति की दिशा में हिमाचल सारे भारत में सब से आगे है । आर्य-संस्कृति, मनु महाराज की संस्कृति यहां से आरम्भ हुई, ऐसा पश्चिमी साहित्यकार भी स्वीकार करने लगे हैं । विल्ज ने भी अपने पूर्वजों को यहां का निवासी माना है । ईसा मसीह आदि पश्चिमी देशों के पूर्व-जों का पहरावा इस प्रदेश के लोगों के पहरावे से मिलता है । मनाली मनु का घर है । परशुराम, भृगु और व्यास आदि ऋषियों के आश्रम इसी प्रदेश के भीतर रहे हैं । यह वह मिट्टी है जिसने मानव की पुरातन संस्कृति को जीवित रखने में बड़ी सहायता दी है ।'

इस अवसर पर श्री के0 ऐल0 वैद्य ने 'कलाकार और प्रेक्षक', श्री अनिल राकेशी ने 'हिमाचली कवियों की समस्यायें', प्रि0 हरिश्चन्द्र राय ने 'कलाकारों की समस्यायें' तथा श्री रत्न सिंह हिमेश ने 'हिमाचल प्रदेश के लेखकों एवम् कलाकारों की समस्यायें' विषयों पर अपने निबन्ध पढ़े । डा0 श्यामाचरण दुबे, निदेशक, इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ् एडवान्सड स्टडी ने अपने सारगभित भाषण में साहित्यकार के दायित्व पर प्रकाश डाला ।

Scanned with CamScanner

इस अवसर पर हिन्दी, उर्दू, पहाड़ी तथा संस्कृत का कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें प्रदेश के 30 कवियों ने भाग लिया।

चित्रकला प्रदर्शनी में प्रदेश के लगभग 40 चित्रकारों ने भाग लिया। मुख्य मन्त्री महोदय के शब्दों में ठीक ही है कि 'आज तक हिमाचल में होने वाले भाषा, कला और संस्कृति सम्बन्धी फंक्शनों में शायद यह सब से बड़ा फंक्शन हो।'

इसके अनन्तर प्रदेश के कवियों का एक कवि-सम्मेलन दिनांक 14 अक्तूबर, 1973 को कालीबाड़ी हाल में हिमाचल विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'आल इण्डिया फिलासाफिक कान्फ्रेन्स' के अवसर पर हुआ। इसमें प्रदेश के दस मूर्धन्य कवियों ने भाग लिया।

28 जनवरी, 1974 को 'हिमाचल हिन्दी साहित्य संगम' के द्वारा आयोजित वार्षिक सम्मेलन तथा बसन्तोत्सव के अवसर पर नाहन में हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी द्वारा एक कविसम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें प्रदेश के 19 हिन्दी कवियों ने भाग लिया। इसकी अध्यक्षता अकादमी के अध्यक्ष श्री प्रार्थी जी ने की।

3 अगस्त, 1974 के दिन चम्बा में मिंजर मेले के अवसर पर अकादमी के प्रथम प्रकाशन '**पहाड़ी लोक रामायण**' का विमोचन अकादमी के संरक्षक तथा अध्यक्ष, वन मन्त्री श्री लाल चन्द प्रार्थी ने किया। इस अवसर पर कविसम्मेलन में हिन्दी व उर्दू के कवियों ने भाग लिया।

(क्रमशः)

* * * *

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
श्रान्त-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर,
जिसके आगे राह नहीं॥

—प्रसाद

P&SHPS—1958-HAACL/74-21-1-75—1,000.

SOMSI

Declaration under clause 19-D of the Press and Registration of Books Act, 1867 as modified in 1956.

FORM IV

(*See* Rule 8)

1. Place of publication	..	Simla.
2. Periodicity of its publication	..	Quarterly.
3. Printer's Name	..	Shri K. C. Rajput.
Nationality	..	Indian
Address	..	Deputy Controller, Printing and Stationery, Himachal Pradesh Simla-3.
4. Publisher's Name	..	Dr. Bansi Ram Sharma.
Nationality	..	Indian
Address	..	Research Officer, Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Pari Mahal, Simla-9.
5. Editor's Name	..	Dr. Bansi Ram Sharma.
Nationality	..	Indian
Address	..	Research Officer, Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Pari Mahal, Simla-9.

I, Dr. Bansi Ram Sharma, hereby declare that the particulars given above are true to best of my knowledge and belief.

Dr. BANSI RAM SHARMA,

Scanned with CamScanner

लेखकों से

'सोमसी' हिमाचल कला, संस्कृति तथा भाषा के क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका होने की अभिलाषा संजोये हुए है ।

हमारा यह प्रयत्न है कि 'सोमसी' के प्रत्येक अंक को अधिकाधिक संग्रहणीय बनाया जाए। साहित्यकार एवम् कलाकार चिरन्तन सत्य का उद्घोषक होता है और अपनी कृतियों के द्वारा अमर होना चाहता है । सोमसी के प्रत्येक अंक की भी चिर-नवीन होने की साध है,

परन्तु

यह आपकी साधना और सहयोग के अभाव में शायद सम्भव न हो ।
कृपया पत्रिका-उपयोगी विषयों पर शोधपूर्ण सामग्री प्रकाशनार्थ भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, परिमहल, शिमला-9 द्वारा प्रसारित तथा उपनियन्त्रक मुद्रण तथा लेखन सामग्री, हिमाचल प्रदेश, शिमला-3 द्वारा मुद्रित ।

Scanned with CamScanner